को भी नागौर-राज ने युद्ध में शामिल होने के लिए निमन्त्रण भजा। रुद्रसिंह झिलमिलाते हुए कवच, अस्त्र, शस्त्र और झिलम धारण करके ससैन्य आ पहुँचे। भीलों को मार भगाना इस वीर के लिए कुछ कठिन काम न था। अकेले सिर्फ इसी के दल ने भीलों का तसह-नहस कर दिया। नागौरराज को अपनी तलवार खींचने की जरूरत नहीं पड़ी।

भीलों को भगाने पर रुद्रसिंह को उन लोगों के शिविर में बहुत-सा सोना और चाँदी मिली। उन लोगों की कुछ जमीन भी वहाँ थी। रुद्रसिंह का पराक्रम सुनकर नागौर-राज बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु जब सोना, चाँदी और जमीन बाँटने का समय आया तब इन दोनों में अदावत हो गई। रुद्रसिंह ने इस लड़ाई में बड़ा काम किया था और अच्छी वीरता दिखाई थी। इसलिए वह अपना हिस्सा ज्यादा माँगते थे। लोभ के कारण नागौरराज अपनी ही कहे जाते थे। वे रुद्रसिंह को सिर्फ आधा ही हिस्सा देना चाहते थे। इसी खैंचातानी में दोनों तरफ से कड़े कड़े शब्दों का प्रयोग होने लगा। अन्त में नागौरराज से न रहा गया। वे बोले "तू मेरे सामने निरा बच्चा है। यदि बहुत बड़ बड़ करेगा तो तेरी कुशल नहीं। डरपोक भीलों को हरा देने से बड़ा गर्व करता होगा। मैं अब तक सैकड़ों लड़ाइयों में अपनी तलवार आजमा चुका हूँ। पर तुम्हारी तरह घमंड कभी नहीं किया। तू कल का छोकड़ा है। अभी तक युद्ध में कभी नहीं गया था। इसलिए कल एक जरा सी मुठभेड़ में विजय पाने से इतनी ऐंठ करने लगा। शायद इस लड़ाई में तुझे अपनी तलवार खींचने का भी काम न पड़ा होगा। निकल यहाँ से।"

एक वीर को क्रोध से पागल बनाने के लिए ये शब्द काफी थे। परन्तु रुद्रसिंह ने क्रोध न प्रकट किया। बड़े धैर्य्य से कलेजा थामकर उन्होंने कहा "आप मुझसे बड़े हैं, शायद आपने बहुत बार तलवार भी आजमाई है! पर आपके शरीर में उतना लोहू नहीं है जितना कि घमंड है। इसका बदला किसी न किसी दिन जरूर लूँगा" इतना कह कर बिना जुहार मुजरा किये वे वहाँ से चल दिये।

जिस समय घोड़े पर सवार रुद्रसिंह राजा के महलों के नीचे से जा रहे थे उस समय खिड़की में एक बहुत ही सुन्दर रमणी-मूर्ति को उन्होंने देखा। वह इनकी ओर न देखती थी। उसका ध्यान किसी दूसरी तरफ था। रुद्रसिंह ने साहस कर घोड़े की बाग खींच ली और थोड़ी देर तक उसकी ओर टकटकी लगाये देखते रहे। पर ज्योंही उसकी दृष्टि इनकी तरफ गई त्योंही वह शर्मा कर भीतर चली गई। रुद्रसिंह ठंडी साँस भर कर आगे बढ़े और सेना साथ लेकर अपने घर चले गये।

(२)

आज नागौर-राज्य की राजधानी के किले में सन्नाटा छाया हुआ है। नागौर-राज दिलीपसिंह के खास महल में बहुत-से सफेद दाढ़ी और लाल लाल आँखों वाले पुराने सरदार बैठे हैं। सबके सिर झुके हुए हैं। श्मशान का सा सन्नाटा छाया हुआ है। सबके चेहरों से उदासी और निराशा टपक रही है। बड़ी देर के बाद निस्तब्धता भंग हुई। राजा दिलीपसिंह गला भरकर बोले—"निःसन्देह अब रक्षा का कोई उपाय नहीं। लड़के सेना के साथ मुगलों की दक्षिणी लड़ाइयों में फँसे हुए हैं। क्या गुजरात के धूर्त और पापात्मा गयासुद्दीन की इच्छा पूरी होगी? कभी नहीं। जब तक नागौर में क्षत्रिय-रक्त का एक भी बूँद बाकी है तब तक मेरी प्यारी पन्ना को कोई देख भी नहीं सकता। बताओ तो सरदारो? क्या अब केसरिया बाना पहिनने और भङ्ग खाने का समय नहीं आ गया है? मैं समझता हूँ कि अपनी वीरता दिखलाने का इससे अच्छा समय अब कभी न मिलेगा। आप लोगों की क्या राय है?"

उन बुड्ढों में भी कैसा बेढब जोश था। सब एकाएक खड़े हो गये और तलवार पर हाथ रख कर कहने लगे—"स्वर्ग की तैयारी हो। महाराज, साका में विलम्ब न किया जाय।" ऐसा मालूम होता था मानो किसी एक ही आन्तरिक शक्ति ने इन सब के विचार एक साथ संचालित किये हैं। राजा दिलीपसिंह ने इस बात को स्वीकार किया। सामन्त और सरदार लोग एक एक करके केसरिया बाना पहनने और भङ्ग खाने के लिए जाने लगे। राजा दिलीपसिंह भी उठकर रनिवास में पहुँचे। भीतर जाते ही उन्हें पन्द्रह सोलह वर्ष की एक युवती मिली। सुन्दरता, लावण्य, सतीत्व और पवित्रता की यह मूर्ति थी। राजा ने आँखों में आँसू भर कर उससे कहा—"प्यारी पन्ना, अब हम लोग इस संसार से बिदा होना चाहते हैं। बेटी,

हम लोगों का मिलाप अब स्वर्ग में होगा। साके के सिवा अब कोई उपाय नहीं। जा माँ से कह दे कि सब वीराङ्गनाओं को इस महोत्सव के लिए बहुत शीघ्र तैयार कर लें।" पन्ना बोली—"बाबा साका होगा, साका!" इतना कह कर वह हँसती हुई दौड़ी और जाकर पितामही से सब हाल कह दिया। पन्ना की माता उसकी बाल्यावस्था में ही मर चुकी थी। वह अपनी पितामही को ही माँ कहती थी। यह समाचार सुन कर रनिवास की सब ललनाओं के चेहरों पर धैर्य्य और दृढ़ता की रेखा खिंच गई। उनको इसी दशा में छोड़कर पन्ना एक खिड़की में जा बैठी। वहाँ से कोसों तक का दृश्य साफ साफ दिखाई देता था। इस समय अस्त होते हुए सूर्य्य की किरणों से मैदान की हरी हरी घास सुवर्णमय हो रही थी। चहचहाते पक्षी अपने अपने घोंसलों की तरफ जा रहे थे। पन्ना के तेजस्वी नेत्र इस मनोहर दृश्य को छोड़कर बहुत आगे बढ़ गये और कोई दस कोस की दूरी के एक पहाड़ पर जाकर ठहर गये। वह इस पहाड़ पर के किले को जानती थी। क्योंकि उसने इसी जगह से उसे कई बार देखा था। एकाएक उसका चेहरा खिल उठा। वह वहाँ से दौड़ती हुई सीधी अपने पिता के पास पहुँची। दिलीपसिंह ने कुछ कड़ेपन से कहा—"यह क्यों? क्या इस समय भी बच्चों का सा खेल शोभा देता है?" पन्ना ने बड़े भोलेपन से मधुर शब्दों में कहाः—"बाबा! यहाँ से दस बारह कोस उत्तर-पूर्व की ओर किसका किला है?" दिलीपसिंह ने लापरवाही के साथ जवाब दियाः—"राजा रुद्रसिंह का। पर इससे क्या?" "मैं उनके पास राखी भेजूंगी"—पन्ना ने चट उत्तर दिया। पहले तो राजा दिलीप ने इस बात को स्वीकार करने से साफ नाहीं कर दी। उन्होंने कहा कि वह हमारा शत्रु है। हम विपद् के समय शत्रु की शरण न लेंगे। पर जब पन्ना ने विनीत और नम्र-भाव से कहाः—"आपत्तिकाल में शत्रुता भूल जानी चाहिए। फिर वे तो क्षत्रिय ही हैं। इसमें कोई हानि नहीं।" तब बड़ी कठिनाई से राजा ने उसका प्रस्ताव स्वीकार किया। उसने तुरन्त एक जरी के कामवाले एक रेशमी रूमाल में एक रेशम की राखी और पीले चाँवल रख दिये और अपने एक विश्वस्त नौकर रामलाल के हाथ में वह छोटी सी अमूल्य पोटली दे दी। रात होते ही कमन्द के सहारे वह पीछे की दीवार से उतर गया और वहाँ से चल दिया।

(३)

किले के चारों तरफ गुजरात के बादशाह ने चौकी थाने लगवा दिये थे। थोड़े थोड़े से अन्तर पर चौकी वाले आग जला रहे थे। रामलाल बड़ी सावधानी से उनसे बच बच कर जा रहा था। इस तरह वह एक घंटे में आध मील से अधिक न गया होगा कि एक सिपाही की निगाह उसपर पड़ ही गई। यद्यपि वह बहुत सावधानी से जा रहा था तथापि चौकीवाले भी कुछ कम चालाक न थे। चौकीदार ने डाट कर पूछा—"कौन जाता है?" ये शब्द जंगल भर में गूँज उठे। इससे सब चौकी वालों के कान खड़े हो गये। इन भयङ्कर शब्दों को रामलाल ने भी सुना। वह बड़ी तेजी से भागा। सैकड़ों घुड़सवार—"पकड़ो पकड़ो मारो मारो"—चिल्लाते हुए इधर उधर दौड़ने लगे। रामलाल भाग कर निकल जाता; पर उसका मुड़ासा छूट कर गिर गया। मुड़ासे की तो कोई चिन्ता न थी। पर पन्ना का भेजा हुआ अनमोल संदेसा उसी में रक्खा था। उसके छोड़ने से सब काम बिगड़ जाता। यही सोचकर आत्मत्यागी और निर्भय रामलाल पीछे लौटा। थोड़ी दूर पर उसे मुड़ासा मिल गया। परन्तु सामने ही एक साईस एक चंचल और गठीले घोड़े को थामे खड़ा था। उसके सामने से बचकर निकल जाना मुश्किल काम था। साहसी और धीर रामलाल ने सब काम बना लिया।

वह निश्चिन्तता के साथ उस साईस के पास गया और कहने लगा—"अहह भाई! तुम्हें बड़ी तकलीफ हो रही है। घोड़ा बड़ा पाजी है। लाओ, हम इसे टहलाते हैं, तब तक तुम आराम करो।" आलसी साईस ने बड़ी खुशी के साथ उस कसे कसाये घोड़े की बाग रामलाल को सौंप दी। रामलाल घोड़े को धीरे धीरे टहलाने लगा। टहलाते टहलाते वह उसे थोड़ी दूर ले गया। फिर तो एक उछाल मारने का काम था। रामलाल बड़ी फुर्ती के साथ घोड़े पर चढ़ गया और एँड़ लगाकर साईस की आँखों की ओट हो गया। साईस हल्ला मचाने लगा। तब शत्रुपक्ष के घुड़सवारों ने उसका पीछा किया। पर सब व्यर्थ हुआ। रामलाल कुछ कच्चा अश्वारोही न था। वह १२ मील तक बराबर तेजी के साथ चला गया। परन्तु अब उसने घोड़े को बेकाम समझा। क्योंकि मुसलमान सवार टापों की आहट पाकर अब भी दौड़े चले आ रहे थे। घोड़े को

उसने यहीं छोड़ दिया और बड़ी सावधानी से पेचीदा रास्तों के द्वारा सबेरा होते होते वह राजपुर के दृढ़ किले में पहुँच गया। बड़ी कठिनाई से फाटक पार कर वह रुद्रसिंह के महलों तक पहुँचा। उसका संदेसा पाकर रुद्र सिंह स्वयं बाहर आये और पन्ना की चिट्ठी पाकर प्रसन्न हुए। अभी तक उन्हें राखी नहीं मिली थी। इससे कुछ गर्म होकर वे बोले:—"कुछ भी हो, मैं उस घमण्डी राजा की सहायता करने नहीं जाऊँगा।" इतने ही में रामलाल ने राखी दी। अब राजा का क्रोध शान्त हो गया। वे कुछ सोच विचार कर बोले:—"अच्छा सहायता करूँगा और बहुत शीघ्र करूँगा।" फिर उन्होंने अपने मन में कहा:—"अब मेरा बदला पूरा होगा।"

(४)

गुजरात के बादशाह को नागौर घेरे दो महीने से अधिक बीत गये। तोपें पास न होने के कारण गढ़ जीतने के लिए जब उसके सब प्रयत्न व्यर्थ हुए तब बादशाह ने गुजरात से पुर्तगाली तोपें मँगाईं। उनके आने पर किले के हाथ आने में सन्देह ही क्या था? पर कहावत है कि—"नरचेती नहिं होत है प्रभुचेती तत्काल।" किला हाथ में न आया। मुसलमानों को दुर्दशा के साथ गुजरात लौटना पड़ा। रुद्रसिंह और दिलीपसिंह के बीच में बड़ी शत्रुता थी। क्या वीर रुद्रसिंह दिलीप के अपमानपूर्ण वचन भूल सकता था? कभी नहीं। परन्तु नहीं, उसे वे वचन भुलाने ही पड़े। एक स्त्री विपद् में फँसी है वह निस्सहाय है। उसने एक वीर से अपना रक्षक बनने की प्रार्थना की है। और फिर राखी भेजकर अपना भाई भी बना लिया है। शिव! शिव!! इस पवित्र बन्धन को कौन तोड़ सकता था? यदि कोई भी स्त्री अपनी रक्षा के लिए किसी सच्चे सामन्त के पास राखी भेजे तो फिर वह निराश न रह सकती। रुद्रसिंह ने सामन्तता और वीरता के नियमों का उल्लंघन नहीं किया। चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ, सामन्त की प्रतिज्ञा पूर्ण हुए बिना नहीं रह सकती। रुद्रसिंह ने इसी के अनुसार व्यवहार किया।

रुद्रसिंह के पास कुल पाँच सहस्र योद्धा थे। प्रायः सभी सवार थे। उस समय पैदल सेना बहुत लाभदायक और उपयोगी न समझी जाती थी। इससे राजपूत लोग सवारों ही को अधिक पसन्द करते थे।

रुद्रसिंह ने अपनी सेना के पाँच भाग किये। सब भाग बराबर थे। एक हिस्सा मेवाड़ से गुजरात जाने वाली राह पर भेजा गया और शेष चार गुजराती सेना के चारों ओर डट गये। इनमें से तीन भाग बिलकुल छिप गये। एक ने रात को कोई दो हजार पटाखे छुटाये और खूब हल्ला मचाया। गुजराती सेना धोखे में आ गयी। सबके सब तैयार होकर जिधर शोर होता था उधर ही चले। परन्तु ज्यों ज्यों वे आगे बढ़े त्यों त्यों शोर भी आगे बढ़ता गया।

इस तरह ये लोग किले से बहुत दूर निकल गये। किले वालों को रुद्रसिंह के आने की और यह चाल चलने की बात मालूम थी। उन लोगों ने फाटक खोल दिये। कोई ५०० कट्टर राजपूत किले के पास वाली मुसलमानी सेना पर टूट पड़े। उधर उस भूली हुई सेना पर तीनों तरफ से छिपी हुई सेना टूट पड़ी और जो सेना इन्हें धोखे में डाल चुकी थी वह भी लौट पड़ी। गुजराती सेना बहुत थी। परन्तु अचानक आक्रमण, राजपूतों की कट्टर वीरता, और बादशाह की कायरता के कारण उन लोगों के पैर उखड़ गये। उधर पाँचवीं टुकड़ी ने भी अपना कर्तव्य पूरा किया। थोड़े से सिपाहियों की रक्षा में बड़ी बड़ी तोपें गुजरात से आ रही थीं। बारूद और गोले साथ थे। गोलन्दाज पुर्तगाली थे। परन्तु भाग्यवश रुद्रसिंह की टुकड़ी घाटी के ऊपर थी। इससे उसे जीतने में कोई विघ्न न पड़ा। इस तरह बड़ी अप्रतिष्ठा और दुर्दशा के साथ गुजराती सेना नागौर को पीठ दिखाती हुई भागी। रुद्रसिंह की वीरता और चतुरता ने नागौर बचा लिया।

(५)

आज नागौर में बड़ा उत्सव हो रहा है। शहनाई, नगाड़े, शंख इत्यादि आनन्द के बाजे बज रहे हैं। नगर में कीर्तन हो रहा है। आज नागौर का पुनर्जन्म हुआ है।

इसी उत्सव और आनन्द के बीच रुद्रसिंह अपने कट्टर योद्धाओं के आगे आगे राज-महल की ओर आ रहे हैं। उनके तेजस्वी चेहरे से शूरता, वीरता, पराक्रम और उमङ्ग टपकी पड़ती है।

उनकी आँखें एक तरफ टिकी हुई हैं। उनके दोनों तरफ जो लोग जुहार करने को खड़े हुए हैं उनकी उन्हें खबर भी नहीं। एक बार उन्होंने एक मोहिनी मूर्त्ति राज-

महल की खिड़की में देखी थी। आज भी उनका ध्यान उसी की ओर लगा हुआ है। धीरे धीरे यह सामरिक जलस उसी खिड़की के नीचे पहुँचा। पहले की सी एक झलक फिर दिखाई दी। परन्तु अब की बार की झलक में बड़ा अन्तर था। जिसे रुद्रसिंह देख रहे थे उसके मुखमण्डल पर निराशा, उदासी और हार्दिक वेदना के काले काले बादल छा रहे थे। यह पन्ना थी। रुद्रसिंह इसे न पहचानते थे। वे पन्ना के केवल पूर्व-परिचित मुख को पहचानते थे।

थोड़ी देर में वे राज-महल में बुलाये गये। पन्ना के राखीबन्द भाई से रनिवास में भी किसी को पर्दा न था। राजा ने अपने पूर्व अपराध की क्षमा माँगी। जिसमें क्षमता होती है वह अवश्य क्षमा करता है। रुद्रसिंह राजा को क्षमा कर और उनका आदर-सत्कार ग्रहण कर रनिवास में गये।

परन्तु हाय! यहाँ पहुँच कर उनके हृदय पर वज्रपात हुआ। जिस मूर्ति को हृदय में रखकर वे आकाश में कोट बाँधते थे वह स्वयं पन्ना थी। जिसने राखी भेजी थी वह तो बहिन हुई। हृदय का वह बबूला वहीं बैठ गया। परन्तु हा! उसका आघात इतना कठोर हुआ कि राजपुर नरेश ने इस संसार को असार समझ कर स्वर्ग का रास्ता लिया। पन्ना के लिए भी यह संसार दुःखमय हो गया। मालूम नहीं करुणा-निधि जगदीश्वर ने इन दोनों का क्या न्याय किया।

१६०६

❀ ❀ ❀

उसने कहा था

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(१)

बड़े बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढी वाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर, 'बचो खालसाजी,' 'हटो भाईजी' 'ठहरना माई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा',[1] कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और खोमचे और भारे वालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमा वालिए; हट जा, पुत्ताँ प्यारिए; बच जा, लंबी वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है?—बच जा।

ऐसे बंबूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

१—बादशाह

'तेरे घर कहाँ है?'

'मगरे में;—और तेरे?'

'माँझे में;—यहाँ कहाँ रहती है?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबजार में है।'

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—'तेरी कुड़माई[१] हो गई?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे तीसरे दिन सब्जी वाले के यहाँ, या दूध वाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की संभावना के विरुद्ध, बोली—'हाँ, हो गई।'

'कब?'

'कल;—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।'[२] लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

"राम राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गई। लुधियाने से दस गुना जाड़ा, और मेह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखता नहीं;—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक् से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका[३] करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी[४] मेम के बाग में—मखमल का सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय! फिर सात जरमनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हजारासिंह ने मुसकरा कर कहा—'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गए तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है" लहनासिंह बोला—"पर करें क्या? हड्डियों में जो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चंबे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।"

"उदमी,[५] उठ, सिगड़ी में कोले डाल। बजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।" यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

१—मँगनी।

२—ओढ़नी।

३—बकरा मारना। ४—फ्रेंच ५—उद्यमी।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!" इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गए।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी बाड़ी के ख़रबूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा[1] जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे[2] लगाऊँगा।"

"लाड़ी होराँ[3] को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलाने वाली फरंगी मेम—"

"चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।"

"देस देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं।"

"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनों कंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख़्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और "निमोनिया" से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेलकी खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाए हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मराने की बात लगाई है। मरें जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयो, कैसे—

[5]दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जांदिए,
कर लेणा लौगां दा बपार मडिए;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुं।
कद्दू बणया वे मजेदार गोरिए
हुण लाणा चटाका कदुए नुं॥

कौन जानता था कि दाढ़ियों वाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे, पर सारी खंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गए, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात गई है। अँधेरा है! सन्नाटा छाया हुआ है। बोधसिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कंबल बिछाकर और लहनासिंह के दो कंबल और एक बरानकोट[6] ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो?" पानी पीकर बोधा बोला—"कँपनी[7] छुट रही है। रोम रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।"

"और तुम?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेरे लिये—"

१—जमीन की नाप। २—पेड़।
३—स्त्री होराँ=आदरवाचक।
४—नई नहरों के पास वर्ग भमि।

५—अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जाने वाली, लौंगों का व्यापार कर ले और इज़ारबन्द का सौदा कर ले। जीभ चटचटा कर कद्दू खाना है। गोरी! कद्दू मजेदार बना है। अब चटचटा कर उसे खाना है।

६—ओवरकोट। ७—कँपकँपी

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से मैमें बुन बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।" यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो?"

"और नहीं झूठ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और ज़ीन का कुरता भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई—"सूबेदार हज़ारासिंह!"

"कौन? लपटन साहब? हुकुम हुज़ूर" कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पंद्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कंबल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुंह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

"लो तुम भी पियो।"

आँख मारते मारते लहनासिह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—"लाओ, साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उनका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमंट में थे।

"क्यों साहब, हम लोग हिंदुस्तान कब जायँगे?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसंद नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गये थे"—"हाँ, हाँ—वही जब आप खोते[1] पर सवार थे और आपका खानसामा अबदुल्ला रास्ते के एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था?" "बेशक, पाजी कहीं का"—'सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रजमंट की मैस में लगायेंगे।" "हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया"—"ऐसे बड़े बड़े सींग! दो दो फुट के तो होंगे!"

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहनासिंह खंदक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोने वाले से टकराया।

"कौन? वजीरासिंह?"

"हाँ, क्यों लहना? क्या, क़यामत आ गई? जरा तो आँख लगने दी होती?"

(४)

"होश में आओ। क़यामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।"

१—गधे।

"क्या ?"

"लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा[1] साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।"

"तो अब ?"

"अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खंदक की बात झूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यहीं—"

"ऐसी-तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहना-सिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो !"

"आठ नहीं, दस लाख। एक एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लटपन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दिया-सलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बंदूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब "आँख ![2] मीन गौट्ट" कहते हुए चित्त हो गए। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—"क्यों लपटन साहब ? मिजाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्त्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये ? हमारे लपटन साहब तो बिना "डैम" के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने की तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा[3] बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़ पढ़कर उनमें से विमान चलाने की विद्या जान गए हैं। गौ को नहीं मारते। हिंदुस्तान में आ जायँगे तो गोहत्या बंद कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी और गाँव से बाहर निकाल-कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो—"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—"क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि "एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया" और औरों से सब हाल कह दिया। सब बंदूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर

१—सुसरा (गाली)।

२—हाय ! मेरे राम (जर्मन)

३—खटिया।

बाँधीं। घाव माँस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बंद हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिखों की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक तक कर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटों में वे—

अचानक आवाज आई "वाह गुरुजी की फतह! वाह गुरुजी का खालसा।" और धड़ाधड़ बंदूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहना-सिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खां दी फौज आई! वाह गुरूजी दी फतह! वाह गुरूजी दा खालसा!! सत श्रीअकाल पुरुख!!!" और लड़ाई खतम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पंद्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया। और बाकी का साफा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में, 'दंतवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे कैसे मन मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन, और कागजात पाकर, उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अंदर अंदर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रखी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है; सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगंद है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।

"और तुम?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिए भी गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उनने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—"तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। "वज़ीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।"

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनायें एक एक करके सामने आती हैं।

सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जी वाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़माई हो गई तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—"हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलों वाला सालू?" सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

"वज़ीरासिंह, पानी पिला दे।"

पच्चीस वर्ष बीत गए। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुकद्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं; लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे तब सूबेदार बेढ़े[1] में से निकलकर आया। बोला—"लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

"मुझे पहचाना?"

"नहीं।"

"तेरी कुड़माई हो गई?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—"

भावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

"वज़ीरा, पानी पिला"—'उसने कहा था।'

१—ज़नाने

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[2] की एक घँघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भरती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।" सूबेदारनी रोने लगी—"अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगे वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।"

रोती रोती सूबेदारनी ओबरी[3] में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

"वज़ीरासिंह, पानी पिला"—'उसने कहा था।'

× × × ×

लहना का सिर अपनी गोदी पर रखे वज़ीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

"कौन? कीरतसिंह?"

वज़ीरा ने कुछ समझकर कहा—'हाँ'।

"भाइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट[4] पर मेरा सिर रख ले।"

वजीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़[5] में यह आम खूब फलैगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।

वजीरासिंह के आँसू टप् टप् टपक रहे थे।

× × × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—

फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहना सिंह।

२—स्त्रियों। ३—अंदर का घर।
४—जाँघ। ५—आषाढ।

विमाता

श्री छबीले लाल गोस्वामी

(१)

विश्वभूषण सत्रह वर्ष का है। काशी के हिन्दू-कालेज में, फर्स्ट इयर क्लास एफ० ए० में पढ़ता है। उसके पिता राममोहन लगभग पचास वर्ष के हैं। पर अपनी अवस्था तथा युवक पुत्र का लिहाज न करके उन्होंने पर साल आठ सौ रुपये देकर चमेली नाम की एक सुन्दरी से विवाह कर लिया है। चमेली को विश्वभूषण से अत्यन्त घृणा है।

(२)

इधर विश्वभूषण के विवाह के पैगाम आने लगे। यद्यपि विश्वभूषण की इच्छा न थी कि उसका विवाह अभी हो, पर पिता का आग्रह देख कर वह चुप रहा। चमेली इस विवाह की बड़ी विरोधिनी थी। उसे कोई उपाय न सूझता था जिससे वह इस आपत्ति को टालती। कई बार उसने लड़के के पढ़ने में विघ्न पड़ने का भय दिखाकर राममोहन को रोका, किन्तु उसे सफलता न प्राप्त हुई। पुत्र-पुत्री के विवाह को ही अपने कर्तव्य की चरम सीमा मानने वाले माता-पिता के सदृश राम-मोहन भी अपने विचार पर दृढ़ रहे।

चमेली का हाल इस समय ठीक वैसा ही था जैसा कि वृद्ध की युवती भार्या का होना चाहिए। राममोहन उसे आत्म-समर्पण कर चुके थे। चमेली के गुण-अवगुण देखने की शक्ति का उनके हृदय से लोप हो चुका था। इस दशा में चमेली की पूर्ण स्वाधीनता में केवल विश्वभूषण ही कण्टक हो रहा था। जब से विश्वभूषण के विवाह का प्रस्ताव उठा तब से चमेली की चिन्ता का स्रोत और भी वेग से प्रवाहित होने लगा। अब तक केवल एक विश्व-भूषण ही का खटका था, अब एक और भी खटके का उत्थान होने वाला है। इस दूसरे खटके से चमेली की स्वाधीनता के एकदम ही लोप हो जाने का डर है। इसी से बचने के लिए चमेली ने विश्व-भूषण पर एक भयानक अभियोग लगा दिया। विश्व-भूषण ने अपने पक्ष में बहुत कुछ कहा। पर राममोहन ने चमेली के पक्ष में ही अपना मन्तव्य सुनाया। लाचार होकर विश्वभूषण ने संसार-सागर में आत्म-निःक्षेप करना ही उचित समझा। स्वाव-लम्बन के भरोसे वह संसार-समुद्र की उत्तुङ्ग तरङ्गों में बहने लगा। इस बीच में उसने कई सहारे पकड़े, पर विपत्ति में कौन किसे सहायता देता है? हम भी एक विपत्तिग्रस्त का वृत्तान्त सुनाकर पाठकों का दिल नहीं दुखाना चाहते।

(३)

ऊपर की घटना को हुए दस वर्ष बीत चुके हैं। प्रयाग के नये वकीलों में प्रसिद्ध वकील श्रीयुत वी० बी० त्रिवेदी, एम० ए०, एल–एल० बी० अपने कमरे में बैठे हुए एक मुकद्दमे के कागज-पत्र देख रहे थे। इसी समय प्रयाग के नामी बैरिस्टर श्रीयुत आर० एन० द्विवेदी की गाड़ी आकर बरसाती में ठहर गई। उससे उतर कर बैरिस्टर साहब, एक भले आदमी को साथ लिए हुए, त्रिवेदी जी के कमरे में दाखिल हुए। आगत-स्वागत के अनन्तर बैरि-स्टर ने कहा—

"काशी में एक भले घर की स्त्री का विष-पान से शरीरान्त हो गया है और विष देने के अपराध में उसका पति गिरफ्तार हुआ है। परसों ही मुकद्दमे की पेशी है। परसों सबेरे मैं काशी पहुँच जाऊँगा। कल आगरे वाले के मुकद्दमे की बहस है। उसमें मुझे हाजिर रहना पड़ेगा। इसलिए तुम फौरन बनारस जाव और जमानत का प्रबन्ध करो। मुकद्दमे का हाल भी अच्छी तरह समझो। घर की फिक्र न करो। मैं अभी अपने साथ सब को ले जाता हूँ।"

बैरिस्टर साहब की बात पर "जो आज्ञा" कह कर त्रिवेदी जी आध घण्टे में ही जाने के लिए तैयार हो गये और मुवक्किल के साथ बैरिस्टर साहब की गाड़ी में जा

बैठे। गाड़ी स्टेशन की ओर तेजी से दौड़ने लगी; क्योंकि काशी जाने वाली गाड़ी छूटने में कुछ ही मिनट बाकी थे। गाड़ी मिल गई और वकील साहब काशी पहुँच गये।

(४)

काशी की फौजदारी अदालत में आज बड़ी भीड़-भाड़ थी। किसी भले आदमी के फँसने पर कचहरियों में जैसी भीड़ होती है आज भी ठीक वैसी ही है। पुलिस ने बड़ी ही मुस्तैदी से मामले की पैरवी की है। लोग समझते हैं कि मुलजिम आज ही दौरा सिपुर्द होगा। हाकिम के आ जाने पर बैरिस्टर द्विवेदी अदालत में पहुँचे। लोगों की दृष्टि चारों ओर से उन पर जा पड़ी। ठीक इसी समय उन्हें एकान्त में ले जाकर वकील बी० बी० त्रिवेदी ने उनसे कुछ कहा, जिसे सुन कर उनके चेहरे पर आश्चर्य और चिन्ता के चिह्न झलकने लगे।

यथासमय मुकद्दमा पेश हुआ। पुलिस की ओर से जोर दिया जाने लगा। कोई तीन घण्टे तक मामला जोरों पर रहा। बाद को बैरिस्टर ने पुलिस की डायरी पेश की। उसमें लिखा था "वारदात के दिन मुलजिम काशी में न था।" बस, फिर क्या था। यहीं से मुकद्दमा गिरने लगा और बैरिस्टर के जोरदार जिरह के आगे पुलिस को चुप होना पड़ा। मैजिस्ट्रेट ने मुकद्दमा खारिज कर दिया। मुलजिम छोड़ दिया गया।

(५)

अदालत से बाहर आकर मुलजिम अपने बैरिस्टर तथा वकील के पैरों पर गिरने लगा। पर उसे बीच ही में रोक कर वी० बी० त्रिवेदी उसके पैरों पर गिर पड़े। वे बोले—"पिता जी! मैं आपका अयोग्य पुत्र विश्वभूषण हूँ।" पिता जी ने पुत्र को गले लगाया। जब वे राममोहन बैरिस्टर की ओर बढ़े तब उन्हें गले लगाकर बैरिस्टर ने कहा—"भाई साहब! आप मेरे समधी हैं; क्योंकि विश्वभूषण मेरा दामाद है।"

अब राममोहन प्रयाग में त्रिवेणी नहाया और विश्वभूषण के बच्चे को खिलाया करते हैं।

१९१५

❀ ❀ ❀

मिलन

श्री ज्वालादत्त शर्मा

राधाकांत मुकर्जी के उद्योग से ब्राह्म-महाविद्यालय जब से खुला है तब से कानपुर के बालक और बालिकाएँ उसमें एक ही साथ पढ़ने का स्वर्गीय आनंद पाने लगे हैं। बालिकाओं और बालकों का प्रेम भी कैसा निर्मल है। उसमें स्वार्थ की गंध भी नहीं; इंद्रिय-संभोग-जन्य सुख का लेश भी नहीं। वह निर्मल प्रेम है; वह शुद्ध प्रेम है। उसमें प्रेम के सिवा और कुछ नहीं। पर, अभागे भारत के विद्यार्थियों के जीवन में तो वह प्रेम बदा ही नहीं। इसी लिए वे बड़े होने पर शुद्ध प्रेम से वंचित रह जाते हैं। वे शुद्ध प्रेम का अनुमान ही नहीं कर सकते। यह बड़े ही संताप की बात है।

पूर्वोक्त महाविद्यालय में कोई तीस लड़के और इतनी ही लड़कियाँ हैं। सबकी उम्र दस साल के अंदर है। उन्हीं में एक लड़का रामानंद है। वह गजब का तेज है। किताब रटते कभी किसी ने उसे नहीं देखा। पर परीक्षा-फल सुनाने के दिन सबसे पहले उसी का नाम सब सुना करते हैं। रामानंद और मोहिनी, जो पंडित देवधर इंजीनियर की एकमात्र लड़की है, साथ साथ पढ़ने आया करते और साथ ही साथ जाया करते हैं। दोनों एक ही क्लास में हैं। अपने क्लास में रामानंद प्रथम और मोहिनी सदा द्वितीय रहा करती है। इस समय इनकी अवस्था कोई दस वर्ष की है। रामानंद गरीब बाप का लड़का है। यद्यपि उसके शरीर पर रेशम के कपड़े और पाँव में डासन के जूते किसी ने नहीं देखे, पर उसका गबरून का कोट और हिंदुस्तानी जूता कभी मैला और टूटा हुआ भी नहीं देखा गया। रामानंद के पिता बहुत ईमानदार हैं। कमसरियट

में नौकर हैं। अपने एकमात्र पुत्र रामानंद की बुद्धि-प्रखरता और संयमता देखकर वे मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद दिया करते हैं और अपने भविष्य का चमकीला भाग्य ध्यान में ला लाकर बहुत सुखी हुआ करते हैं।

तीन वर्ष गुजर गये। जून का महीना है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की प्रवेशिका-परीक्षा के फल का इंतजार हो रहा है। विद्यालय बंद है। छात्रालय में रहने वाले विद्यार्थी अपने अपने घर चले गये हैं। पर जो जहाँ है, गजट की प्रतीक्षा में है। रामानंद और मोहिनी ने भी प्रवेशिका परीक्षा दी है। पर इन दोनों को परीक्षा-फल जानने के लिए, कभी किसी ने विशेष व्यग्र नहीं देखा। रामानंद रोज शाम को मोहिनी के बँगले पर जाया करता है और उसके साथ मिलकर काव्यालोचना और साहित्य-चर्चा किया करता है। रामानंद शहर में रहता है। मोहिनी के पिता १२००) मासिक तनख्वाह पाते हैं। इसलिए वे बड़े ही ठाठ से शहर के बाहर एक बहुत ही बढ़िया बँगले में रहते हैं। मोहिनी कभी कभी अपनी पैरगाड़ी पर रामानंद के घर आया करती है। पर उसका आना नैमित्तिक है और रामानंद का जाना नैत्यिक।

११ जून को तीसरे पहर रामानंद अपने कमरे में बैठा हुआ खड़ी बोली की एक कविता पढ़ रहा था कि इतने में पैरगाड़ी की घंटी की आवाज उसके कानों में पड़ी। रामानंद का मकान लबे-सड़क था। सुबह से शाम तक सैकड़ों पैर-गाड़ियाँ उस सड़क से निकला करती थीं। उनकी घंटियों की टनटनाहट से वह कभी कभी बहुत तंग आ जाता था। पर, आज की घंटी की आवाज उसको अपनी हृदय-तंत्री की आवाज के साथ कुछ ऐसी मिली हुई मालूम हुई कि उसका चित्त एकदम उस मृदु-मधुर टनटनाहट की ओर खिंच गया। इस बात को लिखने में और पाठकों के पढ़ने में जरूर दो-चार सेकन्ड लगेंगे, पर, मानसिक जगत् में यह व्यापार सेकन्ड के कितने हजारवें हिस्से में घटित हो गया, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। जब रामानंद ने देखा कि वह पैरगाड़ी उसी के द्वार पर रुक गई तब उसकी उत्कंठा और भी बढ़ गई। आवाज से उसने पहचान लिया कि यह सिवा मोहिनी के और कोई नहीं। इतने में मोहिनी उसके कमरे में आ गई।

"मोहिनी, कुशल तो है? इस समय क्यों कष्ट किया?"

"रामी बड़ा, ही शुभ समाचार सुनाने आई हूँ। पर इसका मिहनताना क्या दोगे? पहले यह बताओ तो सुनाऊँ।"

"मोहिनी, मिहनताने में मुझ गरीब के पास है ही क्या, जो तुम लक्ष्मी-स्वरूपिणी को भेंट करूँ? यह शरीर और यह मन भी मेरा—"

बात समाप्त न हुई थी कि मोहिनी ने तार का एक लिफाफा रामानंद के हाथ में दे दिया और स्त्री-जन-सुलभ मुसकराहट के साथ कहा—"अच्छा न सही, लो इसे पढ़ो।"

रामानंद ने तार को लिफाफे से निकालकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

Allahabad
Ramanand and Mohini stood first and second in Matriculation. My best congratulations.
Radha Krishna

तार पढ़कर रामानंद ने कहा—"आपको बधाई है।"

मोहिनी ने हँसते हुए जवाब दिया—"और आपको भी।"

इसके बाद देर तक वे दोनों अपनी कालेज-शिक्षा के विषय में बातचीत करते रहे।

(२)

"मेरे मन कछु और है कर्त्ता के कछु और।"

रामानंद और मोहिनी कालेज में एक साथ पढ़ने के स्वप्न देख रहे थे कि इतने ही में रामानंद के पिता को बंगाल जाने के लिए जरूरी हुक्म मिला। रामानंद को छोड़कर पंडित शिवानंद जाना पसंद न करते थे। वे पढ़ने के लिए भी संतान को आँख से ओझल न करने के हिन्दुस्तानी मोह में बेतरह जकड़े हुए थे। रामानंद ने यह समाचार अपनी बालपन की सहपाठिनी मोहिनी को सुनाया तो वह अवाक् हो गई। अंत में वे दोनों, जो आज तक मिले हुए थे, जुदा हुए और उनके बीच में सैकड़ों कोस का व्यवधान हो गया। शिवानंदजी कलकत्ते में एक खास काम पर तैनात हुए। वहाँ जाकर उनका भाग्य चमका। छोटी सी ५०) रुपये की तनख्वाह से एकदम उनकी तनख्वाह १५०) मासिक हो गई। राय साहब का खिताब भी उन्हें मिला। उधर कलकत्ते के एक कालेज में दाखिल

होकर रामानंद ने भी अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय होनहार बंगाली नवयुवकों के साथ बैठकर देना शुरू किया। मोहिनी के पत्र बराबर रामानंद और रामानंद के पत्र बराबर मोहिनी के पास जाया करते थे। पर, न मालूम क्या घटना घटी कि एक दिन शिवानंद अपने प्रिय पुत्र रामानंद के हाथ में मोहिनी के पिता पंडित देवधर का एक पत्र देकर यह कहते हुए चले गये—"बेटा, इसमें जो आज्ञा दी गई है उसका पालन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।"

रामानंद ने पत्र खोला। उसमें लिखा था—"कुछ विशेष कारणों से मैं मोहिनी और रामानंद का पत्र-व्यवहार जारी रखना उचित नहीं समझता। मोहिनी से मैंने मना कर दिया है कि वह कोई पत्र भैया रामानंद को न लिखे। आप भी कृपा करके रामानंद को आज्ञा दे दीजिए कि वह कोई पत्र भविष्य में मोहिनी को न लिखे। मुझे पूर्ण आशा है कि आपकी आज्ञा को वेदवाक्य समझने वाला रामानंद आयंदा कोई पत्र उसको न लिखेगा।"

रामानंद इन पंक्तियों को पढ़कर सन्नाटे में आ गया। उसका शरीर चक्कर खाने लगा। वह आरामकुर्सी पर चुपचाप लेट गया।

(३)

इस घटना को हुए चार वर्ष गुजर गये। कलकत्ता-विश्वविद्यालय का परीक्षा-फल अभी अभी प्रकाशित हुआ है। बी० ए० में सबसे पहला नाम रामानंद चतुर्वेदी का है। वाइस-चैंसेलर ने अपनी स्पीच में भी इस होनहार नवयुवक की बड़ी प्रशंसा की है। यह पहला अवसर है कि दूसरे प्रांत का नवयुवक कलकत्ते के विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में पहले नम्बर पर पास हुआ है।

रामानंद के बी० ए० होते ही भारत-सरकार ने सिविल सर्विस की तैयारी के लिए उसे यथा-नियम छात्र-वृत्ति दी। पर, शिवानंद नहीं चाहते कि रामानंद जहाज पर पाँव रख कर सामाजिक बंधन छिन्न करे। इस बात का पता जब कमसरियट के बड़े अफ़सर को लगा तब उसने शिवानंद को बुलाया और उन्हें बहुत समझाया। उसने कहा, इसमें तुम्हें अकारण हठ न करना चाहिए। पुत्र की उन्नति, अफ़सर का कहना, यूरप से लौटकर भारत में कलक्टरी मिलने का लोभ—इन सब बातों ने मिलकर शिवानंद के भोले और धर्मभाव-पूर्ण मन पर विजय प्राप्त की।

रामानंद को हिंदी से बड़ा प्रेम था। समय मिलने पर वह हिंदी के उत्तमोत्तम ग्रंथ पढ़ता और समाचार-पत्रों में सबसे पहले हिंदी के अखबार देखा करता था। हिंदी की गरीबी पर वह दुखी था। ज्यों ज्यों वह अन्य भाषाओं के ग्रंथ पढ़ता त्यों त्यों उसके मन में हिंदी की हीनता का संताप अधिक होता जाता। जिस अच्छे ग्रंथ को वह पढ़ता उसका आशय थोड़े में हिंदी में लिखने की उसकी आदत पड़ गई थी। इस तरह लिखते लिखते उसके पास बीसियों कापियाँ भर गई थीं। विलायत जाते समय जरूरी असबाब के साथ हिंदी की कापियों का एक पुलिंदा भी उसने रख लिया। रामानंद को खड़ी बोली की कविता से विशेष प्रेम था। वह स्वयं भी कविता लिखता था। पर, किसी पत्र में अभी तक उसकी एक पंक्ति भी न छपी थी। हाँ—ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली—का व्यर्थ झगड़ा जब उठा था तब उसने कल्पित नाम देकर अनेक युक्ति-पूर्ण लेख, खड़ी बोली के पक्ष में लिखे थे। उस समय हिंदी-साहित्य-सेवियों के मन में इस "बार्हस्पत्य" का परिचय पाने की बड़ी लालसा उत्पन्न हुई थी। पर रामानंद ने पहले ही संपादक से इकरार करा लिया था कि किसी तरह भी मैं तुम्हारा नाम न प्रकट करूँगा।

इँगलैंड की स्वतंत्रता-सूचक वायु के पहले ही झोंके ने रामानंद के मस्तिष्क को देशहित के विचारों से भर दिया। उसने यह बात खूब अच्छी तरह जान ली कि बिना मातृ-भाषा की उन्नति के देश की यथार्थ उन्नति होना संभव नहीं। अतएव उसने अपने हिंदी के बस्ते को निकाला। फिर उसने विविध विषयों पर पढ़ी हुई अनेक पुस्तकों का सारांश भिन्न भिन्न लेखों की शक्ल में लिखना शुरू किया। रामानंद को दो ही काम थे। आई० सी० एस० (I.C.S.) की पाठ्य पुस्तकें पढ़ना और हिंदी-लेख लिखना। सिर्फ इन दो कामों में लीन रामानंद लंदन में इस तरह रहने लगा जैसे कोई जंगल में रहता हो। थोड़े ही दिनों के परिश्रम से उसने कोई २५ लेख लिखकर तैयार कर लिये। एक दिन उसने उस सबका एक पुलिंदा बनाकर हिंदी की सर्वोत्तम मासिक पत्रिका "वैजयंती" के संपादक के नाम भेज दिया। ये लेख जो क्रमपूर्वक "भ्रमर" के नाम से "वैजयंती" में छपे तो उसके हजारों नए ग्राहक हो गये।

घर घर चाव से ये लेख पढ़े जाने लगे। जिन विषयों का गुमान भी हिंदी पाठकों को न था उन शास्त्रीय विषयों पर सुविस्तृत लेख पढ़कर हिंदी-हितैषी "भ्रमर" की विद्वत्ता, योग्यता, सारग्राहिता और लेखन-चातुर्य पर लोग मुग्ध हो गये।

कुछ समय बाद रामानंद ने एक छोटा सा खंड-काव्य लिखा। उसमें उसने एक बड़ी मनोमोहक कहानी, खड़ी बोली में, पद्य-बद्ध की। जिस समय यह काव्य "वैजयंती" में निकला उस समय हिंदी जगत् में खलबली मच गई। यह काव्य उन दोषों से बिलकुल शून्य था जिनको खड़ी बोली के विरोधी खड़ी बोली के काव्य के लाजिमी दोष कहा करते थे। इस काव्य के प्रत्येक पद्य—प्रत्येक पंक्ति में प्रेम-रस भरा हुआ था। ऐसा अच्छा काव्य आज तक खड़ी बोली में न निकला था। संस्कृत में कालिदास और जयदेव तथा हिंदी में सूर और तुलसी के काव्यों की तरह लोग इसके पारायण करने लगे। मई की "वैजयंती" में यह काव्य निकला और जून की "वैजयंती" में इसकी समालोचना का निकलना शुरू हो गया। समालोचना के लेखक ने भी अपना नाम न दिया था। लेख के अंत में "कमल" लिखा हुआ था। जब जून की "वैजयंती" कहीं जुलाई मे लंदन पहुँची और रामानंद ने अपने काव्य पर सुविस्तृत और सारपूर्ण समालोचना पढ़ी तब वह दंग रह गया। उसने देखा कि उसके काव्य के भीतरी से भीतरी और बारीक से बारीक गुण-दोषों का बहुत ही अच्छा विवेचन समालोचना में किया गया है। उसने देखा कि समालोचना की भाषा बड़ी प्रौढ़, उसका शब्द-विन्यास बड़ा सुन्दर और उसकी आक्षेपोक्तियाँ बड़ी रसीली हैं। इन बातों ने रामानंद के मन में समालोचक के विषय में बड़ी श्रद्धा पैदा कर दी। उसने बड़ी कृतज्ञता से सिर झुकाकर ईश्वर का धन्यवाद किया। उसने कहा, ईश्वर ही की कृपा से हिंदी-जगत् में भी ऐसे अच्छे समालोचक पैदा होने लगे। आज से रामानंद बड़ी व्यग्रता से "वैजयंती" की प्रतीक्षा करने लगा, क्योंकि उसके उक्त अंक में समालोचना का सिर्फ प्रारंभिक अंश ही छपा था।

(४)

पंडित शिवानंद के आनंद की सीमा नहीं। आज उनके पास सेक्रेटरी आफ स्टेट का तार लंदन से आया है। उसमें उन्होंने रामानंद के सिविल सर्विस परीक्षा में सर्वोच्च स्थान पाने की बधाई दी है। इसके दूसरे ही दिन भारतवर्ष के कुल दैनिक पत्रों में रामानंद की प्रशंसा में टिप्पणियाँ निकल गईं। इसके बाद शीघ्र ही दैनिक पत्रों में रूटर का तार छपा कि इस वर्ष सिविल सर्विस परीक्षा में उत्तीर्ण पहले चार छात्र कहाँ कहाँ नियुक्त होंगे। रामानंद इलाहाबाद में नियुक्त हुए।

"वैजयंती" संपादक पंडित भुजंगभूषण भट्टाचार्य्य बड़े योग्य पुरुष हैं। साहित्य, इतिहास और दर्शन की तो आप मानों मूर्त्ति हैं। वे बड़े सरल भी हैं। देश भर में आपकी बड़ी ख्याति है। "वैजयंती" प्रयाग से प्रकाशित होती है। भट्टाचार्य्य महाशय का दफ्तर शहर के बाहर एक बाग में है। वह एकांत स्थान है। वहीं बैठकर भट्टाचार्य्य महाशय साहित्यालोचना किया करते हैं। बाग में एक छोटी सी कोठी है। इसी कोठी के सम्मुख भाग में भट्टाचार्य्य महाशय का कमरा है। वे आरामकुर्सी पर लेटे हुए आज का दैनिक पत्र पढ़ रहे हैं। कमरे में एक ओर संपादक की मेज है। उस पर करीने से अनेक पत्र, पत्रिकाएँ और समालोचनार्थ आये हुए ग्रंथ रखे हैं। एक ओर लिखने का सामान है। बिल्लौरी दावातों पर स्याही की एक बूँद भी नहीं पड़ी। होल्डरों की निबें निहायत साफ हैं। बेदाग ब्लाटिंग पेपर (सोख्ता कागज) पास ही रक्खा हुआ है। इन चीजों को देखकर मालूम होता है कि यह सामान रोज बदला और साफ किया जाता है। दूसरी ओर पेंसिलें और चाकू आदि हैं। कई तरह की पेंसिलें और दो चाकू रखे हुए हैं। बीच में विजिटिंग कार्ड्स रखने के लिए एक निहायत खूबसूरत रकाबी है। बिजली की घंटी का डोरा मेज के एक कोने में बँधा हुआ है। तारीख-सूचक कैलेंडर घड़ी के नीचे लटक रहा है। उसी के पास भगवती सरस्वती का एक तैल-चित्र टँगा है। भट्टाचार्य्य ध्यानावस्थित से अखबार पढ़ रहे हैं। इतने में कमरे का द्वार खुला और चपरासी एक कार्ड लाया। कार्ड देखते ही भट्टाचार्य्य जी झटपट बाहर गये और कुछ क्षण के बाद ही मिस्टर रामानंद का हाथ पकड़े हुए कमरे में वापिस आये।

हँसते हुए भट्टाचार्य्य जी ने कहा—"आज आपने मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया।"

रामानंद ने बड़ी शिष्टता से उत्तर दिया—"धन्यवाद, कई दिनों से इधर आने को सोच रहा था, मगर आजकल

काम की वजह से अवकाश ही नहीं मिलता। बड़ी मुश्किल से आज आ पाया हूँ।"

भट्टाचार्य्य—"आपके लेखों और विशेषकर आपके सुमधुर काव्य—'मिलन'—से हमारी पत्रिका की बड़ी प्रतिष्ठा हुई है। मेरे पास यथेष्ट शब्द नहीं जो उनसे मैं आपका धन्यवाद करूँ।"

रामानंद—"हिंदी के सेवाव्रत में मैं और आप दोनों ही व्रती हैं। फिर कौन किसका धन्यवाद करे? कहिए, मेरे काव्य के समालोचक महोदय का कोई और लेख तो "वैजयंती" में छपने के लिए नहीं आया?"

"हाँ, आया है।" यह कहते भट्टाचार्य्यजी उठे और मेज की दराज को खोलकर कोई २० सफे का एक लेख निकाल लाये। मोती से अक्षरों की आभा को दूर से ही देखकर रामानंद का हृदय फड़क उठा।

लेख को रामानंद के हाथ में देते हुए भट्टाचार्य्यजी ने कहा—यह देखिए, उन्हीं का लिखा हुआ यह ताजा लेख आया है। "वैजयंती" की अगली संख्या का यही अग्रलेख होगा। इसमें समालोचना के गढ़ रहस्य बहुत ही अच्छी तरह खोले गये हैं। जरा देखिए तो सही।

रामानंद ने लेख को पढ़ना शुरू किया। भट्टाचार्य्य ने बाहर जाकर अपने बगीचे से कुछ फल लाने के लिए चुपके से अपने माली को आज्ञा दी। लेख के अभी दो पृष्ठ भी समाप्त न हुए होंगे कि रामानंद साहसा चौंक पड़े—"क्या यह सच है? अद्भुत व्यापार! विलक्षण घटना!" आदि वाक्य उनके मुँह से निकलने लगे।

इसी समय भट्टाचार्य्य महाशय कमरे में लौट आये। उनको देखकर रामानंद ने कहा—"महाराज, जो रहस्य आज तक छिपाए हुए थे, मेरे बार बार पूछने पर भी जिसे आपने नहीं बताया उसे आज आपने स्वयं ही खोल दिया। आश्चर्य तो देखिए।"

भट्टाचार्य्यजी ने जल्दी में पूछा—"क्या लेखक का असली नाम आपको मालूम हो गया?"

रामानंद ने "हाँ, देखिए न" कहकर लेख का तीसरा पृष्ठ भट्टाचार्य्य जी के सामने रख दिया। उसमें एक फोटो सटा हुआ था और उसके नीचे लिखा था—

पितृतुल्य भट्टाचार्य्यजी की सेवा में सादर समर्पित,

मोहिनीबाला, एम० एस-सी०,

प्रिंसिपल, हिंदू-गर्ल्स-कालेज,

बनारस।

इसी फोटो पर भट्टाचार्य्यजी ही के हाथ का लिखा हुआ था—

सुप्रसिद्ध 'मिलन'-समालोचिका

कमल (f नी)

रामानंद के आनंद का आज पार नहीं। मोहिनी के वियोगजन्य दुःख के कारण ही उन्होंने "मिलन" काव्य लिखा था। भट्टाचार्य्यजी ने जलद-गंभीर घोष में बहुत देर बाद निःस्तब्धता तोड़ी। वे बोले—"तो क्या आप श्रीमती मोहिनी बाला से परिचित हैं?"

रामानंद इसका उत्तर देने ही को थे कि फिर दरवाजा खुला और चपरासी एक और कार्ड लेकर कमरे में आया। कार्ड देखते ही भट्टाचार्य्यजी का चेहरा शुद्ध स्वर्ण-खंड-सम दमक उठा और "दो मिनट के लिए क्षमा कीजिए"—कहते हुए वे बाहर गए। कुछ क्षण बाद ही रामानंद ने मोहिनी और भट्टाचार्य्य को कमरे में प्रवेश करते देखा। मोहिनी एम० एस-सी० का चोगा पहने थी। देखते ही रामानंद उसको पहचान गये। पर मोहिनी की अभिज्ञान-शक्ति की परीक्षा लेने के लिए वे अखबार हाथ में लिये चुपचाप बैठे रहे। मोहिनी ने रामानंद को गबरून का कोट और हिंदुस्तानी जूता पहने देखा था। उस समय वे एक साधारण विद्यार्थी थे। पर आज वे सोलह आना साहब बने कोट पैन्ट डाटे थे। इँग्लैंड में रहने के कारण उनका शरीर-संगठन और चेहरे का वर्ण भी पहले से बहुत कुछ बदल गया था। आखिर, मोहिनी ने धोखा खाया और वह दूसरी ओर भट्टाचार्य्यजी के सामने कुर्सी पर बैठकर उनसे बात-चीत करने लगी। मानों उसने इन साहब बहादुर को देखा ही नहीं। भट्टाचार्य्यजी से बड़े ही कोमल स्वर में मोहिनी ने कहा—

"मुझे क्षमा कीजिए। मैं परसों शाम को यहाँ आ गई पर आपके दर्शन इससे पहले न कर सकी।"

भट्टाचार्य्य—"शुभे, आपने अपने आने की मुझे खबर तक न की।

मोहिनी—"मुझे स्वयं ही न मालूम था कि इसी सप्ताह मुझे यहाँ आना होगा।"

बड़े स्नेह से भट्टाचार्य्य ने पूछा—"कुशल तो है न?"

मोहिनी—"आपका अनुग्रह है। पिताजी की संपत्ति के विषय में यहाँ के प्रसिद्ध वकीलों से एक बहुत ही जरूरी मशविरा करने के लिए मुझे यहाँ सहसा आना पड़ा।"

भट्टाचार्य्य—"समझा।"

मोहिनी ने बड़े चाव से पूछा—"कहिए, कई महीनों से 'भ्रमर' महाशय का कोई लेख "वैजयंती" में नहीं छपा। क्या कारण है? ऐसा लेखक हिंदी-जगत् में दूसरा नहीं। दुःख है, आपको उन्होंने अपना नाम न बताने की इतनी सख्त ताकीद कर दी है। अन्यथा मैं तो उनके दर्शन करके अपने को धन्य समझती।"

इन वाक्यों ने रामानंद के शरीर में बिजली की धारा सी बहा दी।

भट्टाचार्य्य ने मुसकराते हुए कहा—"और आपके सदृश समालोचक भी हिंदी-संसार में दूसरा नहीं, यह कहने की मुझे आज्ञा दीजिए।"

मोहिनी ने गरदन नीची करके कहा—"धन्यवाद भट्टाचार्य्यजी, मैं तो हिंदी की एक क्षुद्र सेविका हूँ।"

भट्टाचार्य्य ने यही समय इन दोनों के मिलन का उपयुक्त समझा। उन्होंने कहा—"हाँ, आप 'भ्रमर' से मिलना चाहती हैं! वे भी आजकल प्रयाग आये हुए हैं। आप मिल लीजिए। पर आपको भी अपनी जिद छोड़कर उनको पहले पत्र द्वारा यह सूचना देनी होगी कि आप ही उनके काव्य की समालोचिका, अपने शब्दों में 'कमल' और मेरे शब्दों में 'कमलिनी' हैं। कहिए मंजूर है?"

मोहिनी—"प्रयाग में वे कहाँ ठहरे हैं, यह तो बता दीजिए।"

भट्टाचार्य्य ने हँसते हुए कहा—"मुझ बूढ़े को ठगने की चेष्टा न करो। जब तक उक्त मजमून का पत्र लिखकर न दोगी, 'भ्रमर' से नहीं मिल सकतीं।"

"क्षमा कीजिए। पत्र लिखती हूँ"—यह कहकर मोहिनी ने मेज के ऊपर से कागज-कलम उठाकर पत्र लिखना आरंभ किया। इधर भट्टाचार्य्य ने मुँह फेरकर रामानंद की ओर भावपूर्ण दृष्टि से देखा तो सिविल सर्विस की परीक्षा पास, न्यायमूर्त्ति, रामानंद उसी निस्तब्धता से अखबार के ऊपर रखे हुए, 'समालोचना-तत्त्व' को पढ़ने का ढोंग कर रहे थे।

बड़े मीठे स्वर में मोहिनी ने कहा—"—पत्र लीजिए।"

पत्र को हाथ में लिए भट्टाचार्य्य ने, दोनों के बीच में खड़े होकर, मोहिनी से कहा—"मोहिनी, मैं तुम्हारा परिचय इलाहाबाद के जाइंट मैजिस्ट्रेट पंडित रामानंद चतुर्वेदी, आई० सी० एस०, उपनाम 'भ्रमर' से कराता हूँ।"

फिर रामानंद की ओर मुड़कर कहा—"माननीय महाशय, मैं आपका परिचय आपकी समालोचिका विदुषी मोहिनीबाला से कराता हूँ।"

इन शब्दों के समाप्त होते न होते मोहिनी रामानंद के चरणों पर गिर पड़ी। रामानंद ने उसको तत्काल ही बड़े प्रेम से उठा लिया।

वृद्ध भट्टाचार्य्य इनके निमित्त फलाहार लाने के लिए बाहर खिसक गये।

इसके एक सप्ताह बाद इलाहाबाद के दैनिक पत्र में निम्नलिखित आशय की पंक्तियाँ छपीं—

भारतवासियों का मुख उज्ज्वल करने वाले स्वनामधन्य मिस्टर रामानंद चतुर्वेदी का विवाह परम विदुषी श्रीमती मोहिनीबाला के साथ कल बड़ी धूमधाम से हो गया। हाईकोर्ट के प्रधान विचारपति तथा अन्यान्य गण्य-मान्य सज्जन विवाहमंडप में उपस्थित थे। ईश्वर करे, नवदंपती चिरजीवी होकर देश का मंगल-साधन करें।

मोहिनी के पिता ने कई लाख की संपत्ति छोड़ी थी, जिसकी एकमात्र अधिकारिणी मोहिनी थी। पर, रामानंद को उस संपत्ति में सबसे अधिक मूल्यवान् वह पत्र प्रतीत हुआ जो मोहिनी के पिता की मृत्यु के बाद उनके बक्स में मिला था। उसमें लिखा था—

"मोहिनी,

जिस दिन मैं इस नश्वर जगत् से बिदा हो चुकूँगा उसी दिन तुम शायद यह पत्र पढ़ोगी। मुझे विश्वास है कि तुमने मेरी उस आज्ञा को, जो मैंने तुमको रामानंद के साथ पत्र-व्यवहार बंद करने के विषय में दी थी, सुनकर

जरूर दुःख पाया होगा। पर आज मैं तुमसे कहता हूँ कि बिना वैसी आज्ञा दिये तुम्हारी और रामानंद की विद्या-विषयक उन्नति असंभव थी। अब मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम रामानंद के साथ विवाह करके सुख से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो। ईश्वर तुम्हारी सारी शुभ कामनायें सफल करे।

तुम्हारा स्नेहभाजन पिता, "देवधर"

१९१५

❀ ❀ ❀

सौत

श्री प्रेमचन्द

पण्डित देवदत्त का विवाह हुए बहुत दिन हुए। पर, उनके कोई सन्तान न हुई। जब तक उनके माँ-बाप जीवित थे तब तक वे उनसे सदा दूसरा विवाह कर लेने के लिए आग्रह किया करते थे। पर, पण्डितजी कभी इस पर राजी न हुए। उन्हें अपनी पत्नी गोदावरी से अटल प्रेम था। सन्तान से होने वाले सुख के निमित्त वे अपना वर्तमान पारिवारिक सुख नष्ट न करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे कुछ नये विचार के मनुष्य थे। वे कहा करते थे कि सन्तान होने से माँ-बाप की जिम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं। जब तक मनुष्य में यह सामर्थ्य न हो कि वह उसका भले प्रकार पालन, पोषण और शिक्षण आदि कर सके तब तक उसकी सन्तान से देश, जाति और निज का कुछ भी कल्याण नहीं हो सकता। पहले तो कभी कभी बालकों को हँसते खेलते देखकर उनके हृदय पर चोट भी लगती थी। परन्तु अब अपने अनेक देश-भाइयों की तरह के भी शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त रहने लगे थे। अब किस्से-कहानियों के बदले धार्मिक ग्रन्थों से उनका अधिक मनोरंजन होता था। अब संतान का खयाल करते ही उन्हें भय सा लगता था।

पर, गोदावरी इतना जल्द निराश होने वाली न थी। पहले तो वह देवी-देवता, गंडे-तावीज और यंत्र-मंत्र आदि की शरण लेती रही। परन्तु, जब उसने देखा कि ये ओषधियाँ कुछ काम नहीं करतीं तब वह एक महौषधि की चिन्ता में लगी। यह महौषधि काया-कल्प से कम न थी। उसने महीनों, बरसों, इसी चिन्तासागर में गोते लगाते काटे। उसने दिल को बहुत समझाया; परन्तु मन में जो बात समा गई थी वह किसी तरह न निकली। उसे बड़ा भारी आत्मत्याग करना पड़ेगा। शायद पति-प्रेम के सदृश अनमोल रत्न भी उसके हाथ से निकल जाय। पर, क्या ऐसा हो सकता है? पन्द्रह वर्ष तक लगातार जिस प्रेम के वृक्ष की उसने सेवा की है क्या वह हवा का एक झोंका भी न सह सकेगा?

गोदावरी ने अन्त में अपनी प्रबल चेष्टा के आगे सिर झुका ही दिया। अब सौत का शुभागमन करने के लिए वह तैयार हो गई—

(२)

पण्डित देवदत्त गोदावरी का यह प्रस्ताव सुन कर स्तम्भित हो गये। उन्होंने अनुमान किया कि या तो यह मेरे प्रेम की परीक्षा कर रही है या मेरा मन लेना चाहती है। उन्होंने उसकी बात हँसकर टाल दी। पर, जब गोदावरी ने गम्भीर भाव से कहा—"तुम इसे हँसी मत समझो। मैं अपने हृदय से कहती हूँ कि सन्तान का मुँह देखने के लिए मैं सौत से छाती पर मूँग दलवाने के लिए भी तैयार हूँ"—तब तो उनका सन्देह जाता रहा। इतने ऊँचे और पवित्र भाव से भरी हुई गोदावरी को उन्होंने गले से लिपटा लिया। वे बोले—"मुझसे यह न होगा। मुझे सन्तान की अभिलाषा नहीं।"

गोदावरी ने जोर देकर कहा—"तुमको न हो, मुझे तो है। अगर अपनी खातिर से नहीं तो तुम्हें मेरी खातिर से यह काम करना ही पड़ेगा।"

पण्डित जी सरल स्वभाव के मनुष्य थे। हामी तो

उन्होंने न भरी। पर, बार बार कहने से कुछ कुछ राजी वे अवश्य हो गये। उस तरफ से इसी की देर थी। पण्डित जी को कुछ भी परिश्रम न करना पड़ा। गोदावरी की कार्य्य-कुशलता ने सब काम उनके लिए सुलभ कर दिया। उसने इस काम के लिए अपने पास से केवल रुपये ही नहीं निकाले, किन्तु अपने गहने और कपड़े भी अर्पण कर दिये। लोक-निन्दा का भय इस मार्ग में सबसे बड़ा काँटा था। देवदत्त तो मन में विचार करने लगे कि जब मैं मौर सजाकर चलूँगा तब लोग मुझे क्या कहेंगे। मेरे दफ्तर के मित्र मेरी हँसी उड़ायेंगे और मुसकराते हुए कटाक्षों से मेरी ओर देखेंगे। उनके ये कटाक्ष छुरी से भी जियादह तेज होंगे। उस समय मैं क्या करूँगा। पर, गोदावरी ने अपने गाँव में जाकर इस कार्य्य का आरम्भ कर दिया और इसे निर्विघ्न समाप्त भी कर डाला। नई बहू घर में आ गई। उस समय गोदावरी ऐसी प्रसन्न मालूम हुई मानो वह बेटे का ब्याह कर लाई हो। वह खूब गाती-बजाती रही। उसे क्या मालूम था कि शीघ्र ही उसे इस गाने के बदले रोना पड़ेगा।

(३)

कई मास बीत गये। गोदावरी अपनी सौत पर उसी तरह शासन करती थी मानो वह उसकी सास है। तथापि वह यह बात कभी न भूलती थी कि मैं वास्तव में उसकी सास नहीं। उधर गोमती को भी अपनी स्थिति का पूरा खयाल रहता था। इसी कारण सास के शासन की तरह कठोर न रहने पर भी गोदावरी का शासन उसे अप्रिय प्रतीत होता था। उसे अपनी छोटी-मोटी जरूरतों के लिए भी गोदावरी से कहते संकोच होता था।

कुछ दिनों बाद गोदावरी के स्वभाव में एक विशेष परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह पण्डित जी को घर में आते-जाते बड़ी तीव्र दृष्टि से देखने लगी। उसकी स्वाभाविक गम्भीरता अब मानो लोप सी हो गई। जरा सी बात भी उसके पेट में नहीं पचती। जब पंडित जी दफ्तर से आते हैं तब गोदावरी उनके पास घंटों बैठी गोमती का वृत्तान्त सुनाया करती है। इस वृत्तान्त-कथन में बहुधा ऐसी छोटी छोटी बातें भी होती थीं कि जब कथा समाप्त होती तब पण्डितजी के हृदय से बोझ-सा उतर जाता। गोदावरी क्यों इतनी मृदुभाषिणी हो गई थी, इसका कारण समझना मुश्किल है। शायद अब वह गोमती से डरती थी। उसके सौन्दर्य से, उसके यौवन से, उसके लज्जायुक्त नेत्रों से शायद वह अपने को पराभूत समझती है। बाँध को तोड़ कर अब वह पानी की धारा को मिट्टी के ढेलों से रोकना चाहती है!

एक दिन गोदावरी ने गोमती से मीठे चावल पकाने को कहा। शायद वह रक्षा-बन्धन का दिन था। गोमती ने कहा, शकर नहीं है। गोदावरी यह सुनते ही विस्मित हो उठी। इतनी शकर इतनी जल्दी कैसे उठ गई! जिसे छाती फाड़कर कमाना पड़ता है उसे अखरता है। खाने वाले क्या जानें?

जब पण्डितजी दफ्तर से आये तब यह जरा-सी बात बड़ा विस्तृत रूप धारण करके उनके कानों में पहुँची। थोड़ी देर के लिए पण्डितजी के दिल में भी यह शंका हुई कि गोमती को शायद भस्मक रोग तो नहीं हो गया।

ऐसी ही घटना एक बार फिर हुई। पण्डित जी को बवासीर की शिकायत थी। लाल मिर्च वे बिलकुल न खाते थे। गोदावरी जब रसोई बनाती थी तब वह लाल मिर्च रसोई में लाती ही न थी। गोमती ने एक दिन दाल में मसाले के साथ लाल मिर्च भी थोड़ी-सी डाल दी। पण्डितजी ने दाल कम खाई। पर, गोदावरी गोमती के पीछे पड़ गई। ऐंठ कर वह उससे बोली—"ऐसी जीभ जल क्यों नहीं जाती!"

(४)

पण्डितजी बड़े सीधे आदमी थे ही। दफ्तर गये, खाया, पड़कर सो रहे। वे एक साप्ताहिक पत्र मँगाते थे। उसे कभी कभी महीनों खोलने की नौबत न आती थी। जिस काम में जरा भी कष्ट या परिश्रम होता उससे वे कोसों दूर भागते थे। कभी कभी उनके दफ्तर में थियेटर के "पास" मुफ्त मिला करते थे। पर, पण्डित जी उनसे कभी काम न लेते। और ही लोग उनसे उन्हें माँग ले जाया करते। रामलीला या कोई और मेला तो उन्होंने शायद नौकरी करने के बाद फिर कभी देखा ही नहीं। गोदावरी उनकी प्रकृति का परिचय अच्छी तरह पा चुकी थी। पण्डितजी भी प्रत्येक विषय में गोदावरी के ही मतानुसार चलने में अपनी कुशल समझते थे।

पर, रुई सी मुलायम वस्तु भी दब कर कठोर हो जाती

है, पण्डितजी को यह आठों पहर की चहचह असह्य-सी प्रतीत होती। कभी कभी वे मन में झुँझलाने भी लगते। इच्छा-शक्ति, जो इतने दिनों तक बेकार पड़े रहने से निर्बल-सी हो गई थी, अब कुछ सजीव-सी होने लगी थी।

पण्डितजी यह मानते थे कि गोदावरी ने सौत को घर लाने में बड़ा भारी त्याग किया है। उसका यह त्याग अलौकिक कहा जा सकता है। परन्तु उसके त्याग का भार जो कुछ है मुझ पर है। गोमती पर उसका क्या एहसान! मेरे कारण उस पर क्यों ऐसी क्रूरताएँ की जाती हैं। यहाँ उसे ऐसा कौन-सा सुख है जिसके लिए वह फटकार पर फटकार सहे? पति मिला है वह बूढ़ा और सदा रोगी। घर मिला है, वह ऐसा कि अगर आज नौकरी छूट जाय तो कल चूल्हा न जले। इस दशा में गोदावरी का यह स्नेहरहित बर्ताव उन्हें बहुत अनुचित मालूम होता।

गोदावरी की दृष्टि इतनी स्थूल न थी कि उसे पंडित जी के मन के भाव नजर न आयें। उनके मन में जो विचार पैदा होते वे सब गोदावरी को उनके मुख पर अङ्कित से दिखाई पड़ते। यह जानकारी उसके हृदय में एक ओर गोमती के प्रति ईर्षा की प्रचण्ड अग्नि दहका देती, दूसरी ओर पण्डित देवदत्त पर निठुरता और स्वार्थप्रियता का दोषारोपण करती। फल यह हुआ कि मनोमालिन्य दिन दिन बढ़ता ही गया।

(५)

गोदावरी ने धीरे-धीरे पण्डितजी से गोमती की बात-चीत करनी छोड़ दी। मानो उसके निकट गोमती घर में थी ही नहीं। न उसके खाने-पीने की वह सुधि लेती है, न कपड़े-लत्ते की। एक बार कई दिनों तक उसे जलपान के लिए भी कुछ न मिला। पण्डितजी आलसी जीव तो थे ही। वे इन सब अत्याचारों को देखा करते, पर अपने शान्ति-सागर में घोर उपद्रव मच जाने के भय से किसी से कुछ भी न कहते। तथापि, इस पिछले अन्याय ने उनकी महती सहन-शक्ति को भी मथ डाला। एक दिन उन्होंने गोदावरी से डरते डरते कहा—"क्या आजकल घर में जलपान के लिए मिठाई विठाई नहीं आती?"

गोदावरी ने क्रुद्ध होकर जवाब दिया—"तुम लाते ही नहीं तो आये कहाँ से! मेरे कोई नौकर बैठा है।"

देवदत्त को गोदावरी के ये कठोर वचन तीर से लगे। आज तक गोदावरी ने उनसे ऐसी रोषपूर्ण बात कभी न की थी।

वे बोले—"धीरे बोलो; झुँझलाने की तो मैंने कोई बात ही नहीं की।"

गोदावरी ने आँखें नीची करके कहा—"मुझे तो जैसे आता है वैसे बोलती हूँ। दूसरों की सी मधुर बोली कहाँ से लाऊँ?"

देवदत्त ने जरा गरम होकर कहा—"आज कल मुझे तुम्हारे मिजाज का कुछ रंग ही नहीं मालूम होता। बात बात पर तुम उलझती हो।"

गोदावरी का चेहरा क्रोधाग्नि से लाल हो गया। वह बैठी थी; खड़ी हो गई। होंठ उसके फड़कने लगे। वह बोली—"मेरी कोई बात अब तुमको क्यों अच्छी लगेगी? अब तो मैं सिर से पैर तक दोषों से भरी हूँ। अब और लोग तुम्हारे मन का काम करेंगे। मुझसे नहीं हो सकता। यह लो, सन्दूक की कुंजी। अपने रुपये पैसे सँभाल लो। यह रोज रोज की झंझट मेरे मान की नहीं। जब तक निभा, निभाया। अब नहीं निभ सकता।"

पंडित देवदत्त मानो मूर्च्छित से हो गये। जिस शान्ति-भङ्ग का उन्हें भय था उसने अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके उनके घर में प्रवेश किया। वे कुछ भी न बोल सके। इस समय उनके अधिक बोलने से बात बढ़ जाने का भय था। वे बाहर चले आये और सोचने लगे कि मैंने गोदावरी के साथ कौन सा अनुचित व्यवहार किया है। उनके ध्यान में न आया कि गोदावरी के हाथ से निकलकर घर का प्रबन्ध कैसे हो सकेगा। इस थोड़ी सी आमदनी में वह न जाने किस प्रकार काम चलाती थी। क्या क्या उपाय वह करती थी। अब न जाने, नारायण कैसे पार लगावेंगे। उसे मनाना पड़ेगा। और हो ही क्या सकता है? गोमती भला क्या कर सकती है? सारा बोझ मेरे ही सिर पड़ेगा। मानेगी तो, पर मुश्किल से।

परन्तु, पण्डितजी की ये शुभ कामनायें निष्फल हुईं। सन्दूक की वह कुंजी विषैली नागिन की तरह वहीं आँगन में ज्यों की त्यों, तीन दिन तक, पड़ी रही। किसी को उसके निकट जाने का साहस न हुआ।

चौथे दिन पण्डितजी ने मानो जान पर खेल कर उस कुंजी को उठा लिया। उस समय उन्हें ऐसा मालूम हुआ मानो किसी ने उनके सिर पर पहाड़ उठाकर रख दिया। आलसी लोगों को अपने नियमित मार्ग से तिल भर भी हटना बड़ा कठिन मालूम होता है।

यद्यपि पण्डितजी जानते थे कि मैं अपने दफ्तर के कारण इस कार्य को सँभालने में असमर्थ हूँ, तथापि उनसे इतनी ढिठाई न हो सकी कि वह कुंजी वे गोमती को दे दें। पर, यह केवल दिखावा ही भर था। कुंजी उन्हीं के पास रहती थी; काम सब गोमती को करना पड़ता था। इस प्रकार गृहस्थी के शासन का अन्तिम साधन भी गोदावरी के हाथ से निकल गया। गृहिणी के नाम के साथ जो मर्य्यादा और जो सम्मान है वह भी गोदावरी के पास से उसी कुंजी के साथ चला गया। देखते देखते घर की महरी और पड़ोस की स्त्रियों के बरताव में भी बहुत अन्तर पड़ गया। गोदावरी अब पदच्युत रानी की तरह थी। उसका अधिकार अब केवल दूसरों की सहानुभूति पर ही रह गया था।

(६)

गृहस्थी के काम-काज में परिवर्तन होते ही गोदावरी के स्वभाव में भी शोकजनक परिवर्तन हो गया। ईर्षा मन में रहने वाली वस्तु नहीं। आठों पहर पास-पड़ोस के घरों में यही चर्चा होने लगी—देखो तो दुनिया कैसी मतलब की है। बेचारी ने लड़-झगड़कर ब्याह कराया; जान-बूझ कर अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी। यहाँ तक कि अपने गहने कपड़े तक उतार दिये। पर अब रोते रोते आँचल भीगता है। सौत तो सौत ही है, पति ने भी उसे आँखों से गिरा दिया। बस, अब लौंडी की तरह घर में पड़ी पड़ी पेट जिलाया करे। यह भी कोई जीना है!

गोदावरी ये करुणासूचक बातें सुनती। इससे उसकी ईर्षाग्नि और भी प्रबल होती जाती। उसे इतना न सूझता था कि यह मौखिक समवेदनायें अधिकांश उस मनोविकार से पैदा हुई हैं जिससे मनुष्य को दूसरों की हानि और दुःख पर हँसने में विशेष आनन्द आता है।

गोदावरी को जिस बात का पूर्ण विश्वास और पण्डितजी को जिसका बड़ा भय था वह न हुई। घर के काम-काज में कोई विघ्न-बाधा, कोई रुकावट न पड़ी। हाँ, अनुभव न होने के कारण पण्डितजी का प्रबन्ध गोदावरी के प्रबन्ध जैसा अच्छा न था। कुछ खर्च जियादह पड़ जाता था। पर, काम भले प्रकार चला जाता था। हाँ, गोदावरी को गोमती के सभी काम दोषपूर्ण दिखाई देते थे। ईर्षा में अग्नि है। परन्तु अग्नि का गुण उसमें नहीं। वह हृदय को फैलाने के बदले उसे और भी संकीर्ण कर देती है। अब घर में कुछ हानि हो जाने से गोदावरी को दुःख के बदले आनन्द होता है। बरसात के दिन थे। कई दिन तक सूर्य्य-नारायण के दर्शन न हुए। सन्दूक में रक्खे हुए कपड़ों में फफूँदी लग गई। तेल के अचार बिगड़ गये। गोमती को उन्हें धूप में रखने की सुधि न रही। गोदावरी को यह सब देख कर रत्ती भर भी दुःख न हुआ। हाँ, दो-चार जली-कटी सुनाने का अवसर उसे अवश्य मिल गया—"मालकिन बनना ही आता है कि मालकिन का काम करना भी।"

पण्डित देवदत्त की प्रकृति में भी अब एक नया रंग नजर आने लगा। जब तक गोदावरी अपनी कार्य्य-परायणता से घर का सारा बोझ सँभाले थी तब तक उनको कभी किसी चीज की कमी नहीं खली। यहाँ तक कि शाक-भाजी के लिए भी उन्हें बाजार नहीं जाना पड़ा। पर, अब गोदावरी उन्हें दिन में कई बार बाजार दौड़ते देखती है। गृहस्थी का प्रबन्ध ठीक न रहने से बहुधा जरूरी चीजों के लिए उन्हें बाजार ऐन वक्त पर जाना पड़ता है। गोदावरी यह कौतुक देखती और सुना-सना कर कहती—"यही महाराज हैं कि एक तिनका उठाने के लिए भी न उठते थे। अब देखती हूँ दिन में दस दफे बाजार में खड़े रहते हैं। कभी यह कहते अब मैं इन्हें नहीं सुनती कि मेरे लिखने-पढ़ने में हर्ज होगा।"

गोदावरी को इस बात का एक बार परिचय मिल चुका था कि पण्डितजी बाजार-हाट के काम में कुशल नहीं हैं। इसीलिए जब उसे कपड़ों की जरूरत होती तब वह अपने पड़ोस के एक बूढ़े लाला साहब से मँगवाया करती थी। पण्डितजी को यह बात भूल-सी गई थी कि गोदावरी को साड़ियों की भी जरूरत पड़ती है। उनके सिर से तो जितना बोझ कोई हटा दे उतना ही अच्छा था। खुद भी वे वही कपड़े पहनते थे जो गोदावरी मँगाकर उन्हें दे देती थी। पण्डितजी को नये फैशन और नये नमूनों से कोई प्रयोजन न था। पर, अब कपड़ों के लिए भी उन्हीं को बाजार जाना

पड़ता है। एक बार गोमती के पास साड़ियाँ न थीं। पण्डितजी बाजार गये तो एक बहुत अच्छा-सा जोड़ा उसके लिए ले आये। बजाज ने मनमाने दाम लिये। उधार सौदा लेने में पण्डितजी जरा भी आगा-पीछा न करते थे। गोमती ने वह जोड़ा गोदावरी को दिखाया। गोदावरी ने देखा और मुँह फेर कर रुखाई से बोली—"भला, तुमने उन्हें कपड़े लाना तो सिखा दिया। मुझे तो सोलह वर्ष बीत गये। उनके हाथ का लाया हुआ कपड़ा मुझे स्वप्न में भी पहनना नसीब नहीं हुआ।"

ऐसी घटनायें गोदावरी की ईर्षाग्नि को और भी प्रज्वलित कर देती थीं। जब तक उसे यह विश्वास था कि पण्डितजी स्वभाव ही से रूखे हैं तब तक उसे सन्तोष था। परन्तु, अब उनकी ये नई नई तरंगें देखकर उसे मालूम हुआ कि जिस प्रीति को मैं सैकड़ों यत्न करके भी न पा सकी उसे इस रमणी ने केवल अपने यौवन से जीत लिया। उसे अब निश्चय हुआ कि मैं जिसे सच्चा प्रेम समझ रही थी वह वास्तव में कपटपूर्ण था। वह निरा स्वार्थ था।

(७)

दैवयोग से इन्हीं दिनों गोमती बीमार पड़ी। उसे उठने-बैठने की भी शक्ति न रही। गोदावरी रसोई बनाने लगी। पर, उसे इसका निश्चय नहीं कि गोमती वास्तव में बीमार है। उसे यही खयाल था कि मुझसे खाना पकवाने के लिए ही दोनों प्राणियों ने यह स्वाँग रचा है। पड़ोस की स्त्रियों से वह कहती कि लौंडी बनने में इतनी ही कसर थी। वह भी अब पूरी हो गई।

पण्डितजी को आज-कल खाना खाते वक्त भागा भाग सी पड़ जाती है। वे न जाने क्यों गोदावरी से एकान्त में बात-चीत करते डरते हैं। न मालूम कैसी कठोर और हृदय-विदारक बातें वह सुनाने लगे। इसीलिए खाना खाते वक्त वे डरते रहते थे कि कहीं उस भयंकर समय का आगमन न हो जाय! गोदावरी अपने तीव्र नेत्रों से उनके मन का यह भाव ताड़ जाती थी। पर, मन ही मन ऐंठ कर रह जाती थी।

एक दिन उससे न रहा गया। वह बोली—"क्या मुझसे बोलने की भी मनाई कर दी गई है? देखती हूँ, कहीं तो रात रात भर बातों का तार नहीं टूटता। पर मेरे सामने मुँह न खोलने की भी कसम सी खाई है। घर का रंग-ढंग तो देखते हो न? अब तो सब काम तुम्हारे इच्छानुसार चल रहा है न?"

पण्डितजी ने सिर नीचा किये हुए उत्तर दिया—"उँह! जैसे चलता है वैसे चलता है। अब उस फिक्र में क्या अपनी जान दे दूँ? जब तुम यही चाहती हो कि घर मिट्टी में मिल जाय तब फिर मेरा क्या वश है।"

इस पर गोदावरी ने बड़े कठोर वचन कहे। बात बढ़ गई। पण्डितजी चौके पर से उठ आये। गोदावरी ने कसम दिला कर उन्हें बिठाना चाहा। पर वे वहाँ क्षण भर भी न रुके। तब उसने भी रसोई उठा दी। सारे घर को उपवास करना पड़ा।

गोमती में एक विचित्रता यह थी कि वह कड़ी से कड़ी बात सहन कर सकती थी। पर, भूख सहन करना उसके लिए बड़ा कठिन था। इसीलिए वह कोई व्रत भी न रखती थी। हाँ, कहने सुनने से जन्माष्टमी रख लेती थी। पर, आज कल बीमारी के कारण उसे और भी भूख लगती थी। जब उसने देखा कि दोपहर होने आई और भोजन मिलने के कोई लक्षण नहीं तब विवश होकर बाजार से मिठाई मँगवाई। सम्भव है, उसने गोदावरी को जलाने ही के लिए यह खेल खेला हो। क्योंकि कोई भी एक वक्त खाना न खाने से मर नहीं जाता। गोदावरी के सिर से पैर तक आग लग गई। उसने भी तुरन्त मिठाइयाँ मँगवाईं। कई वर्ष के बाद आज उसने पेट भर मिठाइयाँ खाईं। ये सब ईर्षा के कौतुक हैं!

जो गोदावरी दोपहर के पहले मुँह में पानी न डालती थी वही अब प्रातःकाल ही कुछ जल-पान किये बिना नहीं रह सकती। सिर में वह हमेशा मीठा तेल डालती थी; पर, अब मीठे तेल से उसके सिर में पीड़ा होने लगी थी। पान खाने का उसे नया व्यसन लग गया। ईर्षा ने उसे नई-नवेली बहू बना दिया।

जन्माष्टमी का शुभ दिन आया। पण्डित जी का स्वाभाविक आलस्य इन दो तीन दिनों के लिए गायब हो जाता था। वे बड़े उत्साह से झाँकी बनाने में लग जाते थे। गोदावरी यह व्रत बिना जल के रखती थी और

पण्डितजी तो कृष्ण के उपासक ही थे। अब के उनके अनुरोध से गोमती ने भी निर्जल व्रत रखने का साहस किया। पर, उसे बड़ा आश्चर्य आया जब महरी ने आकर उससे कहा—"बड़ी बहू निर्जल न रहेंगी, उनके लिए फलाहार मँगा दो।"

सन्ध्या-समय गोदावरी ने मान-मन्दिर जाने के लिए इक्के की फरमाइश की। गोमती को यह फरमाइश बुरी मालूम हुई। आज के दिन इक्कों का किराया बहुत बढ़ जाता था। मान-मन्दिर कुछ दूर भी नहीं था। इससे वह चिढ़कर बोली—"व्यर्थ रुपया क्यों फेंका जाय? मन्दिर कौन बड़ी दूर है। पाँव पाँव क्यों नहीं चली जाती? हुक्म चला देना तो सहज है। अखरता तो उसे है जो बैल की तरह कमाता है!"

तीन साल पहले गोमती ने इसी तरह की बातें गोदावरी के मुँह से सुनी थीं। आज गोदावरी को ही गोमती के मुँह से वैसी ही बातें सुननी पड़ीं। समय की गति!

इन दिनों गोदावरी बड़े उदासीन भाव से खाना बनाती थी। पण्डितजी के पथ्यापथ्य के विषय में भी अब उसे पहले की सी चिन्ता न थी। एक दिन उसने महरी से कहा कि अन्दाज से मसाले निकालकर पीस ले। मसाले दाल में पड़े तो दाल जरा अधिक तेज हो गई। मारे भय के पण्डितजी से वह न खाई गई। अन्य आलसी मनुष्यों के सदृश चटपटी वस्तुएँ उन्हें भी बहुत प्रिय थीं। परन्तु वे रोग से हारे हुए थे। गोमती ने जब यह सुना तब भौंह चढ़ाकर बोली—"क्या बुढ़ापे में जबान गज भर की हो गई है?"

कुछ इसी तरह के कटु वाक्य एक बार गोदावरी ने भी कहे थे। आज उसकी बारी सुनने की थी।

(८)

आज गोदावरी गंगा से गले मिलने आई है। तीन साल हुए वह वर और वधू को लेकर गंगा जी को पुष्प और दूध चढ़ाने गई थी। आज वह अपने प्राण समर्पण करने आई है। आज वह गंगाजी की आनन्दमय लहरों में विश्राम करना चाहती है।

गोदावरी को अब उस घर में एक एक क्षण रहना दुस्सह हो गया था। जिस घर में रानी बन कर रही उसी में चेरी बन कर रहना उस जैसी सगर्वा स्त्री के लिए असम्भव था।

अब इस घर से गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार बार गाँठें देने पर भी कहीं न कहीं से टूट ही जाती है। उसे गंगाजी की शरण लेने के सिवा और कोई उपाय न सूझता था।

कई दिन हुए, उसके मुँह से बार बार जान दे देने की धमकी सुन पण्डित जी खिझला कर बोल उठे थे—"तुम किसी तरह मर भी तो जातीं।" गोदावरी उन विष-भरे शब्दों को अब तक न भूली थी। चुभने वाली बातें उसको कभी न भूलती थीं। आज गोमती ने भी वही बातें कहीं। यद्यपि उसने बहुत कुछ सहन करने के पीछे ये कठोर बातें कहीं थीं। तथापि गोदावरी को अपनी बातें तो भूल सी गई थीं। केवल गोमती और पण्डितजी के वाक्य ही उसके कानों में गूँज रहे थे। पण्डितजी ने उसे डाँटा तक नहीं। मुझ पर ऐसा घोर अन्याय और वे मुँह तक न खोलें!

आज सब लोगों के सो जाने पर गोदावरी घर से बाहर निकली। आकाश में काली घटायें छाई हुई थीं। वर्षा की झड़ी लग रही थी। उसके नेत्रों से भी आँसू की धारा बह रही थी।

प्रेम का बन्धन कितना कोमल है और कितना दृढ़ भी है! कोमल है अपमान के सामने; दृढ़ है वियोग के सामने। गोदावरी चौखट पर खड़ी खड़ी घंटों रोती रही; कितनी ही पिछली बातें उसे याद आती थीं। हा! कभी यहाँ उसके लिए प्रेम भी था, मान भी था, जीवन का सुख भी था। शीघ्र ही पण्डितजी के वे कठोर शब्द भी उसे याद आ गये। आँखों से फिर पानी की धारा बहने लगी। गोदावरी घर से चल खड़ी हुई।

इस समय यदि पण्डित देवदत्त नंगे सिर, नंगे पाँव, पानी में भीगते, दौड़ते आते और गोदावरी के कम्पित हाथों को पकड़कर अपने धड़कते हुए हृदय से उसे लगाकर कहते—"प्रिये!" इससे अधिक और उनके मुँह से कुछ भी न निकलता, तो भी क्या गोदावरी अपने विचारों पर स्थिर रह सकती?

क्वार का महीना था। रात को गंगा की लहरों की गरज बड़ी भयानक मालूम होती थी। साथ ही जब बिजली तड़प जाती तब उसकी उछलती हुई लहरें प्रकाश से उज्ज्वल हो जाती थीं। मानों प्रकाश उन्मत्त हाथी का रूप धारण करके किलोलें कर रहा था। जीवन-संग्राम का एक विशाल दृश्य आँखों के सामने आ रहा था।

गोदावरी के हृदय में भी इस समय विचार की अनेक लहरें बड़े वेग से उठतीं और आपस में टकराती, ऐंठती हुई, लोप हो जाती थीं। कहाँ? अन्धकार में।

क्या यह गरजने उमड़ने वाली गंगा गोदावरी को शान्ति प्रदान कर सकती है? उसकी लहरों में सुधासम मधुर ध्वनि नहीं है और न उनमें करुणा का विकास ही है। वह इस समय उद्दण्डता और निर्दयता की भीषण मूर्त्ति धारण किये हुए है।

गोदावरी किनारे बैठी क्या सोच रही थी, कौन कह सकता है? क्या अब भी उसे यह खटका नहीं लगा था कि पण्डित देवदत्त आते न हों? प्रेम का बन्धन कितना मजबूत होता है!

उसी अन्धकार में ईर्षा, निष्ठुरता और नैराश्य की सताई हुई वह अबला गंगा की गोद में गिर पड़ी! लहरें झपटीं और उसे निगल गईं!!!

(६)

सबेरा हुआ। गोदावरी घर में नहीं थी। उसकी चारपाई पर यह पत्र पड़ा हुआ थाः—

"स्वामीजी, संसार में सिवा आपके मेरा और कौन स्नेही था? मैंने अपना सर्वस्व आपके सुख के भेंट कर दिया। अब आपका सुख इसी में है कि मैं इस संसार से लोप हो जाऊँ। इसीलिए ये प्राण भी अब आपकी भेंट हैं। मुझ से जो कुछ अपराध हुए हों, क्षमा कीजिएगा। ईश्वर आपको सदा सुखी रक्खे।"

पण्डितजी इस पत्र को देखते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

गोमती रोने लगी। पर, क्या वे उसके विलाप के आँसू थे?

१६१५

❀ ❀ ❀

रक्षा-बन्धन

श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

'माँ मैं भी राखी बाँधूंगी।'

श्रावण की धूम-धाम है। नगरवासी स्त्री-पुरुष बड़े आनन्द तथा उत्साह से श्रावणी का उत्साह मना रहे हैं। बहनें भाइयों के और ब्राह्मण अपने यजमानों के राखियाँ बाँधकर चाँदी काट रहे हैं। ऐसे ही समय एक छोटे से घर में एक दस वर्ष की बालिका ने अपनी माता से कहा—माँ मैं भी राखी बाँधूंगी।

उत्तर में माता ने एक ठंडी साँस भरी और कहा—किसके बाँधेगी बेटी—आज तेरा भाई होता तो।

माता आगे कुछ न कह सकी। उसका गला रुँध गया और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये।

अबोध बालिका ने अठलाकर कहा—तो क्या भैया ही के राखी बाँधी जाती है और किसी के नहीं? भैया नहीं है तो अम्मा मैं तुम्हारे ही राखी बाँधूंगी।

इस दुःख के समय भी पुत्री की बात सुनकर माता मुस्कराने लगी और बोली—अरी तू इतनी बड़ी हो गई—भला कहीं माँ के भी राखी बाँधी जाती है!

बालिका ने कहा—वाह, जो पैसा दे उसी के राखी बाँधी जाती है।

माता—अरी पगली! पैसे पर नहीं—भाई ही के राखी बाँधी जाती है।

बालिका उदास हो गई।



भारतमाता

(चित्रकार–अवनीन्द्रनाथ ठाकुर) [१९२५



गोस्वामी तुलसीदास

(चित्रकार – एम० ए० रहमान चगताई)

[१६२५

माता घर का काम-काज करने लगी। घर का काम शेष करके उसने पुत्री से कहा—आ तुझे न्हिला (नहला) दूँ।

बालिका—मुख गम्भीर करके बोली—मैं नहीं नहाऊँगी।

माता—क्यों, नहावेगी क्यों नहीं?

बालिका—मुझे क्या किसी के राखी बाँधनी है?

माता—अरी राखी नहीं बाँधनी है तो क्या नहावेगी भी नहीं। आज त्योहार का दिन है। चल उठ नहा।

बालिका—राखी नहीं बाँधूँगी तो त्योहार काहे का?

माता—(कुछ क्रुद्ध होकर) अरी कुछ सिड़न हो गई है। राखी राखी रट लगा रक्खी है। बड़ी राखी बाँधने वाली बनी है। ऐसी ही होती तो आज यह दिन देखना पड़ता। पैदा होते ही बाप को खा बैठी। ढाई बरस की होते-होते भाई से घर छुड़ा दिया। तेरे ही कर्मों से सब नास (नाश) हो गया।

बालिका बड़ी अप्रतिभ हुई और आँखों में आँसू भरे हुए चुपचाप नहाने को उठ खड़ी हुई।

× × × ×

एक घण्टा पश्चात् हम उसी बालिका को उसके घर के द्वार पर खड़ी देखते हैं। इस समय भी उसके सुन्दर मुख पर उदासी विद्यमान है। अब भी उसके बड़े-बड़े नेत्रों में पानी छलछला रहा है।

परन्तु बालिका इस समय द्वार पर क्यों। जान पड़ता है, वह किसी कार्यवश खड़ी है, क्योंकि उसके द्वार के सामने से जब कोई निकलता है तब वह बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताकने लगती है। मानो वह मुख से कुछ कहे बिना केवल इच्छा-शक्ति ही से, उस पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती थी। परन्तु जब उसे इसमें सफलता नहीं होती तब उसकी उदासी बढ़ जाती है।

इसी प्रकार एक, दो, तीन करके कई पुरुष, बिना उसकी ओर देखे, निकल गये।

अन्त को बालिका निराश होकर घर के भीतर लौट जाने को उद्यत ही हुई थी कि एक सुन्दर युवक की दृष्टि, जो कुछ सोचता हुआ धीरे-धीरे जा रहा था, बालिका पर पड़ी। बालिका की आँखें युवक की आँखों से जा लगीं। न जाने उन उदास तथा करुणापूर्ण नेत्रों में क्या जादू भरा था, कि युवक ठिठककर खड़ा हो गया और बड़े ध्यान से सिर से पैर तक देखने लगा। ध्यान से देखने पर युवक को ज्ञात हुआ कि बालिका की आँखें अश्रुपूर्ण हैं। तब वह अधीर हो उठा। निकट जाकर पूछा—बेटी क्यों रोती हो?

बालिका इसका कुछ उत्तर न दे सकी। परन्तु उसने अपना एक हाथ युवक की ओर बढ़ा दिया। युवक ने देखा, बालिका के हाथ में एक लाल डोरा है। उसने पूछा—यह क्या है? बालिका ने आँखें नीची करके उत्तर दिया—राखी। युवक समझ गया। उसने मुस्कराकर अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ा दिया।

बालिका का मुख-कमल खिल उठा। उसने बड़े चाव से युवक के हाथ में राखी बाँध दी।

राखी बँधवा चुकने पर युवक ने जेब में हाथ डाला और दो रुपये निकालकर बालिका को देने लगा। परन्तु बालिका ने उन्हें लेना स्वीकार न किया। बोली—नहीं पैसे दो।

युवक—ये पैसे भी अच्छे हैं।

बालिका—नहीं—मैं पैसे लूँगी, यह नहीं।

युवक—ले लो बिटिया। इसके पैसे मँगा लेना। बहुत से मिलेंगे।

बालिका—नहीं, पैसे दो।

युवक ने चार आने पैसे मिलाकर कहा—अच्छा ले पैसे भी ले और यह भी ले।

बालिका—नहीं, खाली पैसे लूँगी।

तुझे दोनों लेने पड़ेंगे—यह कहकर युवक ने बलपूर्वक पैसे तथा रुपये बालिका के हाथ पर रख दिये।

इतने में घर के भीतर से किसी ने पुकारा—अरी सरसुती (सरस्वती) कहाँ गई?

बालिका ने—आई—कहकर युवक की ओर कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि डाली और चली गई।

(२)

गोलगंज (लखनऊ) की एक बड़ी तथा सुन्दर अट्टालिका

के एक सुसज्जित कमरे में एक युवक चिंता-सागर में निमग्न बैठा है। कभी वह ठण्डी साँसें भरता है; कभी रूमाल से आँखें पोंछता है; कभी आप ही आप कहता है—हा! सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी चेष्टाएँ निष्फल हुईं। क्या करूँ। कहाँ जाऊँ, उन्हें कहाँ ढूँढ़ूँ। सारा उन्नाव छान डाला। परन्तु फिर भी पता न लगा—युवक आगे कुछ और कहने को था कि कमरे का द्वार धीरे-धीरे खुला और एक नौकर अन्दर आया।

युवक ने कुछ विरक्त होकर पूछा—क्यों क्या है?

नौकर—सरकार अमरनाथ बाबू आये हैं।

युवक—(सँभलकर) अच्छा यहीं भेज दो।

नौकर के चले जाने पर युवक ने रूमाल से आँखें पोंछ डालीं और मुख पर गम्भीरता लाने की चेष्टा करने लगा।

द्वार फिर खुला और एक युवक अन्दर आया।

आओ—भाई अमरनाथ।

अमरनाथ—कहो घनश्याम, आज अकेले कैसे बैठो हो? कानपुर से कब लौटे?

घनश्याम—कल आया था।

अमरनाथ—उन्नाव भी अवश्य ही उतरे होगे?

घनश्याम—(एक ठंडी साँस भरकर) हाँ उतरा था। परन्तु व्यर्थ। वहाँ अब मेरा क्या रखा है।

अमरनाथ—परन्तु करो क्या? हृदय नहीं मानता है—क्यों? और सच पूछो तो बात ही ऐसी है। यदि तुम्हारे स्थान पर मैं होता तो मैं भी ऐसा ही करता।

घनश्याम—क्या कहूँ मित्र, मैं तो हार गया। तुम तो जानते ही हो कि मुझे लखनऊ आकर रहे एक वर्ष हो गया और जब से यहाँ आया हूँ उन्हें ढूँढ़ने में कुछ कसर उठा नहीं रक्खी परन्तु सब व्यर्थ।

अमरनाथ—उन्होंने उन्नाव न जाने क्यों छोड़ दिया और कब छोड़ा—इसका भी कोई पता नहीं चलता।

घनश्याम—इसका तो पता चल गया न, कि वे लोग मेरे चले जाने के एक वर्ष पश्चात् उन्नाव से चले गये। परन्तु कहाँ गये, यह नहीं मालूम।

अमरनाथ—यह किससे मालूम हुआ?

घनश्याम—उसी मकान वाले से जिसके मकान में हम लोग रहते थे।

अमरनाथ—हाँ, शोक!

घनश्याम—कुछ नहीं, यह सब मेरे ही कर्मों का फल है। यदि मैं उन्हें छोड़कर न जाता—; यदि गया था तो उनकी खोज-खबर लेता रहता। परन्तु मैं तो दक्षिण जाकर रुपया कमाने में इतना व्यस्त रहा कि कभी याद ही न आई। और जो आई भी तो क्षणमात्र के लिए। उफ, कोई भी अपने घर को भूल जाता है। मैं ही ऐसा अधम—

अमरनाथ—(बात काटकर) अजी नहीं, सब समय की बात है।

घनश्याम—मैं दक्षिण न जाता तो अच्छा था।

अमरनाथ—तुम्हारा दक्षिण जाना तो व्यर्थ नहीं हुआ। यदि न जाते तो इतना धन...।

घनश्याम—अजी चूल्हे में जाय धन। ऐसा धन किस काम का। मेरे हृदय में सुख शांति नहीं तो धन किस मर्ज की दवा है।

अमरनाथ—ऐं, यह हाथ में लाल डोरा क्यों बाँधा है?

घनश्याम—इसकी तो बात ही भूल गया। यह राखी है।

अमरनाथ—भाई वाह, अच्छी राखी है। लाल डोरे को राखी बताते हो। यह किसने बाँधी है। किसी बड़े कंजूस ब्राह्मण ने बाँधी होगी। दुष्ट ने एक पैसा तक खरचना पाप समझा, डोरे ही से काम निकाला।

घनश्याम—संसार में यदि कोई बढ़िया से बढ़िया राखी बन सकती है तो मुझे उससे भी कहीं अधिक प्यारा यह लाल डोरा है।—यह कहकर घनश्याम ने उसे खोलकर बड़े यत्नपूर्वक अपने बक्स में रख लिया।

अमरनाथ—भाई, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। आखिर यह डोरा बाँधा किसने है?

घनश्याम—एक बालिका ने।

पाठक समझ गये होंगे घनश्याम कौन है।

अमरनाथ—बालिका ने कैसे बाँधा और कहाँ?

घनश्याम—कानपुर में।

घनश्याम ने सारी घटना कह सुनाई।

अमरनाथ—यदि यह बात है तो सत्य ही यह डोरा अमूल्य है।

घनश्याम—न जाने क्यों, उस बालिका का ध्यान मेरे मन से नहीं उतरता।

अमरनाथ—उसकी सरलता तथा प्रेम ने तुम्हारे हृदय पर प्रभाव डाला है। भला उसका नाम क्या है।

घनश्याम—नाम तो मुझे नहीं मालूम। भीतर से किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा था। परन्तु मैं सुन न सका।

अमरनाथ—अच्छा, खैर। अब तुमने क्या करना विचारा है?

घनश्याम—धैर्य धरकर चुपचाप बैठने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकता हूँ। मुझसे जो हो सका, मैं कर चुका।

अमरनाथ—हाँ, यही ठीक भी है। ईश्वर पर छोड़ दो। देखो क्या होता है।

(३)

पूर्वोक्त घटना हुए पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। घनश्यामदास पिछली बातें प्रायः भूल गये हैं। परन्तु उस बालिका की याद कभी-कभी आ जाती है। उसे देखने वे एक बार कानपुर गये भी थे। परन्तु उसका पता न चला। उस घर में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह वहाँ से, अपनी माता सहित, बहुत दिन हुए, न जाने कहाँ चली गई। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसका ध्यान भी कम होता गया। पर अब भी जब वे अपना बक्स खोलते हैं तब कोई वस्तु देखकर चौंक पड़ते हैं। और साथ ही कोई पुराना दृश्य भी आँखों के सामने आ जाता है।

घनश्याम अभी तक अविवाहित हैं। पहिले तो उन्होंने निश्चय कर लिया था कि विवाह करेंगे ही नहीं। पर मित्रों के कहने और स्वयं अपने अनुभव ने उनका यह विचार बदल दिया। अब वे विवाह करने पर तैयार हैं। पर अभी तक कोई कन्या उनकी रुचि के अनुसार नहीं मिली!

जेठ का महीना है। दिन भर की जला देने वाली धूप के पश्चात् सूर्यास्त का समय अत्यन्त सुखदाई प्रतीत हो रहा है। इस समय घनश्यामदास अपनी कोठी के बाग में मित्रों सहित बैठे मन्द-मन्द शीतल वायु का आनन्द ले रहे हैं। आपस में हास्यरसपूर्ण बातें हो रही हैं। बातें करते-करते एक मित्र ने कहा—अजी अभी तक अमरनाथ नहीं आये?

घनश्याम—वह मनमौजी आदमी है। कहीं रम गया होगा।

दूसरा—नहीं रम नहीं, वह आजकल तुम्हारे लिए दुलहन ढूँढ़ने की चिन्ता में रहता है।

घनश्याम—बड़े दिल्लगीबाज हो।

दूसरा—नहीं, दिल्लगी की बात नहीं है।

तीसरा—हाँ, परसों मुझसे यह भी कहता था कि घनश्याम का विवाह हो जाय तो मुझे चैन पड़े।

ये बातें हो ही रही थीं कि अमरनाथ लपकते हुए आ पहुँचे।

घनश्याम—आओ यार, बड़ी उमर—अभी तुम्हारी ही याद हो रही थी।

अमरनाथ—इस समय बोलिए नहीं, नहीं एकाध को मार बैठूँगा!

दूसरा—जान पड़ता है, कहीं से पिटकर आये हो।

अमरनाथ—तू फिर बोला—क्यों?

दूसरा—क्यों बोलना किसी के हाथ क्या बेच खाया है?

अमरनाथ—अच्छा दिल्लगी छोड़ो। एक आवश्यक बात है।

सब उत्सुक होकर बोले—कहो कहो, क्या बात है?

अमरनाथ—(घनश्याम से) तुम्हारे लिए दुल्हन ढूँढ़ ली है।

सब—(एक स्वर से) फिर क्या, तुम्हारी चाँदी है।

अमरनाथ—फिर वही दिल्लगी। यार तुम लोग अजीब आदमी हो।

तीसरा—अच्छा बताओ, कहाँ ढूँढ़ी है?

अमरनाथ—यहीं, लखनऊ में।

दूसरा—लड़की का पिता क्या करता है?

अमरनाथ—पिता तो स्वर्गवास करता है।

तीसरा—यह बुरी बात है।

अमरनाथ—लड़की है और उसकी माँ बस, तीसरा कोई नहीं। विवाह में कुछ मिलेगा भी नहीं। लड़की की माता बड़ी गरीब है।

दूसरा—यह उससे भी बुरी बात है।

तीसरा—उल्लू मर गये; पट्ठे छोड़ गये। घर भी ढूंढ़ा तो गरीब। कहाँ हमारे घनश्याम इतने धनाढ्य और कहाँ ससुराल इतनी दरिद्र? लोग क्या कहेंगे?

अमरनाथ—अरे भाई, कहने और न कहने वाले हमी तुम हैं और यहाँ उनका कौन बैठा है जो कहेगा।

घनश्यामदास ने एक ठण्डी साँस ली।

तीसरा—आपने क्या भलाई देखी जो यह सम्बन्ध करना विचारा है।

अमरनाथ—लड़की की भलाई। लड़की लक्ष्मी-रूपा है। जैसी सुन्दर वैसी ही सरल। ऐसी लड़की यदि दीपक लेकर ढूँढ़ी जाय तो भी कदाचित् ही मिले।

दूसरा—हाँ, यह अवश्य एक बात है।

अमरनाथ—परन्तु लड़की की माता लड़का देखकर विवाह करने को कहती है।

तीसरा—यह तो व्यवहार की बात है।

घनश्याम—और, मैं लड़की देखकर विवाह करूँगा।

दूसरा—यह भी ठीक ही है।

अमरनाथ—तो इसके लिए क्या विचार है?

तीसरा—विचार क्या, लड़की देखेंगे।

अमरनाथ—तो कब?

घनश्याम—कल।

(४)

दूसरे दिन शाम को घनश्याम और अमरनाथ गाड़ी पर सवार होकर लड़की देखने चले। गाड़ी चक्कर खाती हुई यहियागंज की एक गली के सामने जा खड़ी हुई। गाड़ी से उतरकर दोनों मित्र गली में घुसे। लगभग सौ कदम चलकर अमरनाथ एक छोटे से मकान के सामने खड़े हो गये और मकान का द्वार खटखटाया।

घनश्याम बोले—मकान देखने से तो बड़े गरीब जान पड़ते हैं।

अमरनाथ—हाँ, बात तो ऐसी ही है, परन्तु यदि लड़की तुम्हारे पसन्द आ जाय तो यह सब सहन किया जा सकता है।

इतने में द्वार खुला और दोनों भीतर गये। सन्ध्या हो जाने के कारण मकान में अँधेरा हो गया था। अएतव ये लोग द्वार खोलने वाले को स्पष्ट न देख सके।

एक दालान में पहुँचने पर दोनों चारपाइयों पर बिठा दिये गये और बिठाने वाली ने जो स्त्री थी, कहा—मैं जरा दिया जला लूँ।

अमरनाथ—हाँ, जला लो।

स्त्री ने दीपक जलाया और पास ही एक दीवार पर उसे रख दिया, फिर इनकी ओर मुख करके वह नीचे चटाई पर बैठ गई। परन्तु ज्योंही उसने घनश्याम पर अपनी दृष्टि डाली—एक हृदयभेदी आह उसके मुख से निकली—और वह ज्ञानशून्य होकर गिर पड़ी।

स्त्री की ओर कुछ अँधेरा था इस कारण उन लोगों को उसका मुख स्पष्ट न दिखाई पड़ता था। घनश्याम उसे उठाने को उठा। परन्तु ज्योंही उन्होंने उसका सिर उठाया और रोशनी उसके मुख पर पड़ी त्योंही घनश्याम के मुख से निकला—मेरी माता—और वे उठकर भूमि पर बैठ गये।

अमरनाथ विस्मित हो काष्ठवत् बैठे रहे। अन्त को कुछ क्षण उपरान्त बोले—उभ, ईश्वर की महिमा बड़ी विचित्र है। जिनके लिए तुमने न जाने कहाँ की ठोकरें खाईं वे अन्त को इस प्रकार मिले।

घनश्याम अपने को सँभालकर बोले—थोड़ा पानी मँगाओ।

अमरनाथ—किससे मँगाऊँ। यहाँ तो कोई और दिखाई ही नहीं पड़ता। परन्तु हाँ वह लड़की तुम्हारी—कहते अमरनाथ रुक गये। फिर उन्होंने पुकारा; बिटिया थोड़ा पानी दे जावो! परन्तु कोई उत्तर न मिला।

अमरनाथ ने फिर पुकारा—बेटी तुम्हारी माँ अचेत हो गई हैं। थोड़ा पानी दे जाओ।

इस 'अचेत' शब्द में न जाने क्या बात थी कि तुरन्त ही घर की दूसरी ओर बरतन खड़कने का शब्द हुआ। तत्पश्चात् एक पूर्ण वयस्का लड़की लोटा लिए आई।

लड़की मुँह कुछ ढके हुए थी। अमरनाथ ने पानी लेकर घनश्याम की माता की आँखें तथा मुख धो दिया। थोड़ी देर में उसे होश आया। उसने आँखें खोलते ही फिर घनश्याम को देखा। तब वह शीघ्रता से उठकर बैठ गई और बोली—ऐं, मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ? घनश्याम क्या तू मेरा खोया हुआ घनश्याम है? या कोई और?

माता ने पुत्र को उठाकर छाती से लगा लिया और अश्रुबिंदु विसर्जन किये। परन्तु वे बिन्दु सुख के थे अथवा दुख के कौन कहे?

लड़की ने यह सब देख सुनकर अपना मुँह खोल दिया और भैया भैया करती हुई घनश्याम से लिपट गई। घनश्याम ने देखा—लड़की कोई और नहीं, वही बालिका है जिसने पाँच वर्ष पूर्व उनके राखी बाँधी थी और जिसकी याद प्रायः उन्हें आया करती थी।

× × × ×

श्रावण का महीना है और श्रावणी का महोत्सव। घनश्यामदास की कोठी खूब सजाई गई है। घनश्याम अपने कमरे में बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे हैं। इतने में एक दासी ने आकर कहा—बाबू भीतर चलो। घनश्याम भीतर गये। माता ने उन्हें एक आसन पर बिठाया और उनकी भगिनी सरस्वती ने उसके तिलक लगाकर राखी बाँधी। घनश्याम ने दो अशर्फियाँ उसके हाथ में धर दीं और मुस्कराकर बोले—क्या पैसे भी देने होंगे?

सरस्वती ने हँसकर कहा—नहीं भैया, ये अशर्फियाँ पैसों से अच्छी हैं। इनसे बहुत से पैसे आवेंगे।

१९१६

❀ ❀ ❀

झलमला

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए०

मैं बरामदे में टहल रहा था। इतने में मैंने देखा कि विमला दासी अपने आँचल के नीचे एक प्रदीप लेकर बड़ी भाभी के कमरे की ओर जा रही है। मैंने पूछा—क्यों री! यह क्या है? वह बोली—झलमला। मैंने फिर पूछा—इससे क्या होगा? उसने उत्तर दिया—नहीं जानते हो बाबू, आज तुम्हारी बड़ी भाभी पण्डितजी की बहू की सखी होकर आई हैं, इसीलिए मैं उन्हें झलमला दिखाने जा रही हूँ।

तब तो मैं भी किताब फेंककर घर के भीतर दौड़ गया। दीदी से जाकर कहने लगा—दीदी, थोड़ा तेल तो दो।

दीदी ने कहा—जा, अभी मैं काम में लगी हूँ।

मैं निराश होकर अपने कमरे में लौट आया। फिर मैं सोचने लगा—यह अवसर जाने न देना चाहिए, अच्छी दिल्लगी होगी। इधर-उधर देखने लगा। इतने में मेरी दृष्टि एक मोमबत्ती के टुकड़े पर पड़ी। मैंने उसे उठा लिया और दियासलाई का बक्स लेकर भाभी के कमरे की ओर गया। मुझे देखकर भाभी ने पूछा—कैसे आये बाबू?—मैंने बिना उत्तर दिये ही मोमबत्ती के टुकड़े को जलाकर सामने रख दिया। भाभी ने हँसकर पूछा—यह क्या है? मैंने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—झलमला।

भाभी ने कुछ न कहकर मेरे हाथ पर पाँच रुपये रख दिये। मैं कहने लगा—भाभी, क्या तुम्हारे प्रेम के आलोक का इतना ही मूल्य है? भाभी ने हँसकर कहा—तो कितना चाहिए? मैंने कहा—कम-से-कम एक गिनी। भाभी कहने लगीं—अच्छा, इस पर लिख दो; मैं अभी देती हूँ।

मैंने तुरन्त ही चाकू से मोमबत्ती के टुकड़े पर लिख दिया—'मूल्य एक गिनी।' भाभी ने गिनी निकालकर मुझे दे दी और मैं अपने कमरे में चला आया। कुछ दिनों बाद गिनी के खर्च हो जाने पर मैं यह घटना बिलकुल भूल गया।

८ वर्ष व्यतीत हो गये। मैं बी० ए०, एल्-एल० बी० होकर इलाहाबाद से घर लौटा। घर की वैसी दशा न

थी जैसी आठ वर्ष पहले थी, न भाभी थीं, न विमला दासी ही। भाभी हम लोगों को सदा के लिए छोड़कर स्वर्ग चली गई थीं, और विमला कटङ्गी में खेती करती थी।

सन्ध्या का समय था। मैं अपने कमरे में बैठा न-जाने क्या सोच रहा था। पास ही कमरे में पड़ोस की कुछ स्त्रियों के साथ दीदी बैठी थीं। कुछ बातें हो रही थीं, इतने में मैंने सुना, दीदी किसी स्त्री से कह रही हैं—कुछ भी हो बहिन, मेरी बड़ी बहू घर की लक्ष्मी थी। उस स्त्री ने कहा—हाँ बहिन खूब याद आई, मैं तुमसे पूछने वाली थी। उस दिन तुमने मेरे पास सखी का सन्दूक भेजा था न? दीदी ने उत्तर दिया—हाँ बहिन, बहू कह गई थी, उसे रोहिणी को दे देना। उस स्त्री ने कहा—उसमें सब तो ठीक था; पर एक विचित्र बात थी। दीदी ने पूछा—कैसी विचित्र बात? वह कहने लगी—उसे मैंने खोलकर एक दिन देखा तो उसमें एक जगह खूब हिफ़ाजत से रेशमी रूमाल में कुछ बँधा हुआ मिला। मैं सोचने लगी वह क्या है। कौतूहलवश उसे खोलकर देखा। बहिन, कहो तो उसमें भला क्या रहा होगा? दीदी ने उत्तर दिया—गहना रहा होगा। उसने हँसकर कहा—नहीं, गहना न था—वह तो एक अधजली मोमबत्ती का टुकड़ा था और उस पर लिखा हुआ था—'मूल्य एक गिनी।' क्षण-भर के लिए मैं ज्ञान-शून्य हो गया, फिर अपने हृदय के आवेग को न रोककर मैं उस कमरे में घुस पड़ा और चिल्लाकर कहने लगा—वह मेरी है; मुझे दे दो! कुछ स्त्रियाँ मुझे देखकर भागने लगीं। कुछ इधर-उधर देखने लगीं। उस स्त्री ने अपना सिर ढाँपते-ढाँपते कहा—अच्छा बाबू, मैं कल उसे भेज दूँगी; पर मैंने रात को ही एक दासी भेजकर उस टुकड़े को मँगा लिया। उस दिन मुझसे कुछ नहीं खाया गया। पूछे जाने पर मैंने यह कहकर टाल दिया कि सिर में दर्द है। बड़ी देर तक इधर-उधर टहलता रहा। जब सब सोने के लिए गये तब मैं अपने कमरे में आया। मुझे उदास देखकर कमला पूछने लगी—सिर का दर्द कैसा है? पर मैंने कुछ उत्तर न दिया, चुपचाप जेब से मोमबत्ती को निकालकर उसे जलाया और उसे एक कोने में रख दिया।

कमला ने पूछा—यह क्या है?

मैंने उत्तर दिया—झलमला।

कमला कुछ न समझ सकी। मैंने देखा कि थोड़ी देर में मेरे झलमले का क्षुद्र आलोक रात्रि के अन्धकार में विलीन हो गया।

१६१६

❀ ❀ ❀

सन्तू

श्री बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन'

(१)

अतीत भारत के अतीत गौरव-चिह्नों को अपने सुविशाल वक्षस्थल पर धारण कर उज्जयिनी नगरी आज भी अपना मस्तक ऊपर किये खड़ी है। सुभग सलिला-भगवती सिप्रा भूतनाथ भगवान् महाकाल के चरणों को स्पर्श करती हुई अनन्त में मिलने के लिए चली जा रही है। उसका यह क्रम इसी प्रकार अव्याहत चला जाता है। संसार-चक्र भी भविष्यत् को वर्तमान बनाता तथा वर्तमान को अतीत के गर्भ में डालता हुआ अबाधित चला जाता है। इसी से कहना पड़ता है कि "दुरतिक्रमणीयो हि कार्य्य-धारापातबन्धः।" सिप्रे! उज्जयिनी की चिरसङ्गिनी सिप्रे! तुम्हारी इन तरल और उत्ताल तरङ्गों ने अनेक दुःखित आत्माओं को शान्ति दी होगी। तुम्हारे इस कर्ण-मधुर कलकल-निनाद ने अनेक उत्साह-शून्य आत्माओं में कार्य्यकारिणी शक्ति का संचार किया होगा। तुम्हारे इस वृक्षाच्छादित निर्जन कूल पर अनेक संसारविरत महानुभावों ने बैठकर उस अनन्त का साक्षात्कार किया होगा।

सरल-तरल सिप्रे ! ग्रीष्म-ऋतु में किसी न किसी दिन महाराज भर्तृहरि अवश्य तुम्हारे तट पर आये होंगे। सान्ध्य प्रकाश का दृश्य भी उन्होंने वहीं से देखा होगा; और, फिर देखा होगा चन्द्रालोकित नैश गगन। मन्द मन्द वायु के झकोरों ने जब उनके हृदय में नाना प्रकार के भाव जागृत कर दिये होंगे तब क्या उनके श्रीमुख से—

"मन्दो मरुत् सुमनसः शुचि हर्म्यपृष्ठं
ग्रीष्मे मदञ्च मदनञ्च विवर्धयन्ति"—

ये उद्गार सहसा न निकल पड़े होंगे। इन्हें अवश्य ही तुमने सुना होगा। क्या तब तुम्हारे आनन्द की कुछ भी सीमा रही होगी ? भगवति सिप्रे ! एक दिन काली निशा से तुम्हारे दुकूल व्याप्त हुए होंगे। उस दिन उन्हीं भर्तृहरि के हृदयाकाश में वैराग्य का सूर्य्य उदित हुआ होगा। क्या तुमने उनको—"धिक् ताञ्च तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च" —कहते सुना था ? मा ! क्या कह सकती हो कि उन्होंने इन्हीं तटद्वय पर कितनी रात्रियाँ निशीथ-चिन्ता में व्यतीत की होंगी ? जाने दो मा ! कदाचित् यह अतीत गाथा तुमको चर्वित-चर्वण प्रतीत हो।

एक एक करके दस बज गये। देखते देखते सब दीपक बुझ गये। कोलाहल शान्त हो गया। उज्जयिनी प्रशान्ति की प्रतिमूर्ति बन गई। उस स्तब्ध नगरी के भव्य मस्तक पर भगवान रजनीनाथ उदित हो गये। क्या संकुचित गलियों में और क्या राजमार्ग पर, सब कहीं, गृहावलियाँ चुपचाप खड़ी थीं। सब अपनी अपनी सुख-शय्या पर सो रहे थे। पर, दूर, कोई अपने कलकण्ठ-कण्ठ से गा रहा था—

"सोओ सुखनिँदिया प्यारे ललन....."

एक कमरे में दीपक जल रहा था। एक शुभ्र पलँग पर एक सप्तदशवर्षीय रुग्ण युवक लेटा हुआ था। उसका मुख मुरझाया हुआ तथा शरीर अत्यधिक कृश था। उसकी विशाल आँखें अन्दर धँस गई थीं। सिरहाने एक और युवक बैठा था। रोगी का सिर युवक की गोद में था। रोगी ने कहा—"दादा, पानी। गला सूखा जाता है। पानी। देखते क्या हो ?"

युवक ने बड़े ही मीठे और करुण स्वर में कहा—"भैया, सन्त, पहले यह दवा पीलो, फिर तुम्हें जल देंगे।"

सन्तू बोला—"विमल दादा, अब मैं दवा अवा न लूँगा। पानी।"

विमल ने कहा—"क्यों भैया, ऐसा हठ क्यों करते हो ?"

सन्तू शान्ति से कहने लगा—"विमल दादा, अब तो "औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः।"

विमल कुछ न बोला। सन्तू ने आँख मूँद ली। फिर आँखें खोल कर विमल की ओर बड़ी करुण दृष्टि से देखने लगा। विमल को यह दृष्टिपात बड़ा हृदय-भेदक जान पड़ा। उसने बड़ी कठिनता से अपने आँसुओं को रोका।

सन्तू फिर कहने लगा—"दादा ! आप दुराशा की आस किये बैठे हैं। मेरी यह बीमारी साधारण नहीं। आप......अरे ! आप रोते हैं ?"

विमल बालकों के सदृश रोने लगा। कमला पास ही खड़ी थी।

सन्तू बोला—"भाभी, देख तो भैया को न जाने क्या हो गया है ?"

कमला ने इसके पहले कभी विमल की आँखों में आँसू न देखे थे। आज उसने देखा कि विमल के दृढ़ हृदय ने धैर्य्य का दिवाला निकाल दिया।

वह विमल से बोली—"यह क्या ? यदि आप उनके सामने यों बच्चों के से आँसू बहावेंगे तो..."

विमल बोला—"नहीं कमला, रोता कहाँ हूँ।" विमल ने अपने आँसू पोंछ डाले।

सन्तू ने कहा—"अच्छा लाओ, यदि मेरे दवा न पीने से आपको कुछ कष्ट होता हो तो पीलूँ।"

विमल ने दवा की कटोरी उसके ओठ से लगा दी। वह दवा पी गया।

फिर वह बोला—"अब तो पानी दो।"

विमल ने कमला को गरम किया हुआ पानी लाने का इशारा किया। कमला ने विमल के हाथ में एक गिलास दे दिया। उसने सन्तू से कहा—"लो।" सन्तू ने एक घूँट पीकर मुँह फेर लिया—

"अरे ! भाई यह तो गरम है। ठण्डा लाओ।"

कमला बोली—"लाला, आप समझदार होकर ऐसी बातें करते हैं। अभी यही पी लो।"

विमल बोला—"भैया, ठण्डा जल सुबह देंगे"

यह सुनकर सन्तू मानों किसी आन्तरिक भाव से प्रेरित हो कहने लगा—

"कब दादा? सुबह? पर किसे?"

यह कहकर वह चुप हो गया। उसके चेहरे पर थोड़ी सी मुसकुराहट दिखाई दी। इन शब्दों को सुन कर और उस भावभरी मुसकान को देखकर विमल सिहर उठा! सन्तू! क्या प्रातःकाल के पूर्व ही तुम किसी महान अज्ञेय पथ के पथिक हो जावगे? क्या सचमुच तुम इस मुसकुराहट से यह जता रहे हो कि अभागे तूने तो शीतोदक से मेरी तृषा तक न बुझाई!

(२)

"टन्, टन्, टन्"—विमल ने चौंक कर घड़ी की ओर देखा। तीन बजाकर मिनिट की सूई आगे चली गई। सन्तू की आँख कुछ लग गई थी। विमल कमरे के बाहर आया। उसने देखा कि निद्रादेवी सारे जगत् पर अपना मोह-जाल फैलाये हुए हैं। शीतल मन्द समीरण बह रहा है। माता प्रकृति प्राणि-मात्र को थपकियाँ दे दे कर सुला रही है। चन्द्रदेव ने सहचरी रजनी को अपनी कौमुदी का स्वच्छ पट पहना दिया है। वे अपने करों से गोपाल-मन्दिर तथा महाकाल-मन्दिर के उच्च शिखरों का स्पर्श करके मानो हँस रहे हैं। सहचरी यामिनी घुल घुल कर चन्द्र से बातें कर रही है। तारकायें इस प्रेमालाप को सुनकर खिली पड़ती हैं। कैसा सुन्दर शान्त समय है। किन्तु उत्तप्त हृदय को शान्ति कहाँ? कभी कभी पहरे वाले "जागते रहना"—कह कर चिल्ला उठते हैं। पास वाले इमली के पेड़ पर दिवान्ध देवता कभी कभी अपनी कर्कश बोली से इस स्तब्धता को भङ्ग कर देते हैं। विमल इधर उधर शून्य दृष्टि से देखने लगा। याद आता है, बहुत दिन नहीं हुए, तब विमल एक रात को इसी तरह आकाश की ओर मुँह किये देख रहा था। उस दिन उसने अपने एक अभिन्न-हृदय को खो दिया था। उस दिन उसे सर्व संसार शून्य दिखाई देता था। आज उसका प्राणों से प्यारा भाई मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ था। उस दिन वह नैराश्यपूर्ण अन्धकार में भटक रहा था। और आज? आज वह घने अँधेरे में एक क्षीण ज्योति को देख रहा था। आज वह बड़ी दुबिधा में था। उसे उस जीवन-ज्योति के बुझने की बड़ी आशङ्का थी। उसने अपने आप पूछा—"अगर ज्योति बुझ गई तो?" ओफ! कैसा भयानक प्रश्न है! इसका उत्तर उसे न मिला। वे दिन रोज़े के थे। एक फकीर दूर पर गा उठा—

"चुन चुन मिट्टी महल बनाया, कोई कहे घर मेरा है।
ना घर तेरा ना घर मेरा, चिड़िया रैन बसेरा है॥"

विमल ने इसे सुना या नहीं सो हम नहीं जानते। पीछे से किसी ने उसके कन्धे पर हाथ रख दिया। इस कोमल कर-स्पर्श से विमल चौंक उठा। देखा कि कमला मुँह लटकाये खड़ी है।

विमल ने पूछा "क्यों कमला?"

कमला ने धीरे से कहा—"वे न जाने क्या बर्रा रहे हैं।"

विमल बिना कुछ कहे वहाँ से चल दिया। कमरे में आकर देखा कि सन्तू नींद में कुछ बर्रा रहा है। वह झट उसके पास जाकर बैठ गया। सन्तू नींद में कह रहा था—

"...मेरा...का...म...देश...से...वा...र...ह... भ..ग...न्"

विमल ने पुकारा—"सन्तू!"

सन्तू चौंक उठा।

विमल ने पूछा—"सन्तू! क्या बर्राते थे?"

सन्तू चुप रहा। वह विमल के मुख की ओर देखने लगा। कुछ देर बाद सन्तू को जोर से हिचकियाँ आने लगीं। कमला ने यह देखा। उसने दौड़ कर नौकर से कहा—डाक्टर को बुला लाओ। नौकर आज्ञापालन करने दौड़ा।

थोड़ी देर तक किसी तरह आँखों द्वारा अपने भाव प्रकट करते हुए सन्तू बोला—

"दादा, अब मैं चलने पर हूँ। किन्तु एक बात कहता हूँ। आपको मेरे जीवन का कार्य्य-भार अपने ऊपर लेना होगा।"

यह कहकर वह विमल की ओर देखने लगा। विमल चुप थे।

सन्तू फिर बोला—"मुझे अत्यन्त दुःख है कि मैं इस कार्य्य को पूर्ण किये बिना ही जाता हूँ। यदि आप उसे पूर्ण करने का वचन दें तो मैं सुख से प्रयाण कर सकूँ।"

विमल फिर चुप रहा। उसने अपने निर्बल हृदय पर हाथ रक्खा। वह जोर से धड़क रहा था। सामने देखा कि छोटे भाई सन्तू का कार्य्य एक विशाल पर्वत के सदृश है। विमल ने अपने हृदय से पूछा—

"निर्बल ! क्या तुम इस इतने बड़े अनुष्ठान के साधन में फलीभूत हो सकोगे ?"

कुछ उत्तर न मिला। विमल को इस प्रकार मौन देखकर सन्तू उत्तेजित हो उठा।

वह बोला—"विमल दादा ! तो क्या मुझको इस प्रकार निराश ही जाना पड़ेगा ? अच्छा यह भी ठीक ही है। यदि इसी प्रकार प्रबल पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए मैं अपने प्राणविसर्जन कर सकूँ तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं अपने इस कार्य्य को जन्मान्तर में अवश्य पूर्ण कर सकूँगा। विमल दादा, आप इसका भार अपने ऊपर न लें। अब...मु...झे...जाने...दें।"

विमल अपने अल्पवयस्क भाई के इस अद्भुत साहस को देखकर प्रारम्भिक उत्साह से उत्तेजित हो उठा।

वह बोला "भैया सन्तू ! तेरा कार्य्य मैं करूँगा।"

सन्तू लड़खड़ाती जबान से कहने लगा—"नहीं दादा... प्रणाम...मेरा का...र्य...मे...रे...साथ...भाभी.... दादा...देख...ना...प्र...ण।..." (एक हिचकी) और बस !!!

कमला चीख मार कर गिर पड़ी। चीखें सुनकर डाक्टर बाबू उलटे पैर लौट गये। विमल के नीचे से पृथ्वी खिसक गई ! सर्वत्र अन्धकार !

(३)

सन्तू इस संसार में नहीं। उसे गये बहुत दिन हो गये। किन्तु सृष्टि के सब कार्य्य ज्यों के त्यों चले जा रहे हैं। सूर्य्योदय होता है, सूर्य्यास्त होता है; दिन आता है, रात जाती है। शीतला सिप्रा भी कलकलनाद करती हुई उसी प्रकार अष्ट प्रहर बहती चली जा रही है। उज्जैन-निवासियों के सारे कार्य्य आनन्द से चल रहे हैं। महाकालेश्वर के मन्दिर में "हरोऽम् हर" की ध्वनि अब भी प्रातः सायं उसी प्रकार कर्णगोचर होती है। सन्ध्या के समय आर० एम० रेलवे भी निश्चित रूप से स्टेशन पर आ जाती है। सन्तू के बिना कोई भी कार्य्य रुका सा दिखाई नहीं देता।

सायङ्काल का समय है। अस्ताचल-सन्निकटवर्ती भगवान अंशुमाली अपने आरक्त करों से उज्जयिनी नगरी के उच्च सौध-शिखरों को स्पर्श कर रहे हैं। विमल इस समय म्युनिसिपल-पार्क में एक बेंच पर बैठा है। वह आकाश की ओर देख रहा है। उसने देखा कि आकाश अनन्त है और मैं भी अनन्त के गर्भ में स्थित हूँ। सन्तू की आत्मा भी इसी अनन्त के गर्भ में स्थित है। फिर मैं सन्तू को क्यों नहीं पाता ? हाँ, अवश्य पाऊँगा। किन्तु कब ? अनन्त के गर्भ में अनन्त वस्तुयें हैं। सन्तू भी उन अनन्त वस्तुओं में से एक है। मैं भी एक हूँ। अतः मैं एक इन अनन्त में से उस एक को किस प्रकार ढूँढ़ सकता हूँ ? क्या करूँ ? इसके लिए मुझे भी अनन्त होना पड़ेगा। बस। तब सन्तू और मैं एक हो जाऊँगा। फिर सन्तू के ढूँढ़ने की आवश्यकता ही क्या ? इतने में उसका ध्यान टूट गया। पास ही देखा कि "चना जोर गरम" की आवाज लग रही है।

फिर उसने देखा कि सूर्यास्त हो चुका। कौवे आमने सामने के दो वृक्षों पर बैठ कर काँव काँव कर रहे हैं। उनकी काँव काँव से विमल को सन्तू की एक बात का स्मरण हो आया। वह अपने आप कहने लगा—"सन्तू। ठीक इसी समय, इसी स्थान पर, इन्हीं कौवों के रव को सुनकर तुमने एक दिन मुझसे कहा था कि इधर के कौवे तो उदार-दल के (Liberals) हैं और उधर के अनुदार-दल के (Conservatives) ये इस समय आयरलेंड के स्वराज्य सम्बन्धी प्रश्न को हल कर रहे हैं। बालक ! तुम्हारे इस अपरिमित ज्ञान पर मैं उस रोज मोहित हो गया था। किन्तु वही बात आज मुझे शूल सी क्यों चुभती है।"

विमल उठ कर घर गया। सिर-दर्द का बहाना करके वह बिना भोजन किये ही पलँग पर पड़ गया। कमला पास बैठ कर धीरे धीरे सिर दबाने लगी। इसी दशा में विमल को नींद आ गई। निद्रादेवी ने भी उसे विचार-तरङ्गों से मुक्त न किया। वह स्वप्न देखने लगा। मानो

वह एक दुर्गम वन में चला जा रहा है। आकाश में सघन मेघ आ आकर घिरने लगे। ठण्डी हवा खूब जोरों से चलने लगी। देखते देखते आकाश मेघों से व्याप्त हो गया। धीरे धीरे अन्धकार और घना होता गया। अब मूसलधार वर्षा प्रारम्भ हो गई। अँधेरा यहाँ तक बढ़ा कि हाथ को हाथ न सूझने लगा। इतने में बिजली चमकी। उसके प्रकाश में देखा कि सन्तू उस मूसलधार पानी में बाल-स्वभाव-जन्य कलोलें कर रहा है। उसने यह भी देखा कि वह खूब ठण्ढा जल पी रहा है। विमल नींद में बोल उठा—

"सन्तू यह क्या ? पानी में मत खेलो। बीमार हो जावगे।"

सन्तू ने मुसकरा कर कहा—"अभागे विमल दादा, तुमने तो ठण्ढे जल से मेरी प्यास न बुझाई।"

इसके बाद विमल अपना हृदय मसोस कर आगे बढ़ा। वह एक बार जोर से पुकारने लगा—

"सन्तू ! तुम कहाँ हो ? सन्तू ! तुम कहाँ हो ?"

पर उस झंझा-वायु से क्षुब्ध अरण्य में केवल यही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी—"सन्तू तुम कहाँ हो ? !!!"

अब मानो विमल इस जङ्गल से पार होने की चेष्टा करने लगा। धीरे-धीरे बादल फटने लगे। यत्र तत्र तारे चमकने लगे। भगवान शर्वरीनाथ ने अपना सुन्दर मुख फिर दिखाया। अबके विमल ने देखा, मानो निर्जन वन में एक पहाड़ के नीचे दो नदियों का सङ्गम है। वहाँ एक सुन्दर वाटिका है। उस वाटिका में एक कुटीर है। एक ओर एक नदी, कदली-कुंज में क्रीड़ा करती हुई, सुन्दर शुभ्र स्फटिक शिलाओं से टकराती हुई, वृक्षों की टहनियों से छेड़ छाड़ करती हुई, दूसरी नदी में अपनी वक्र धारा को मिलाती हुई, उसके वक्ष स्थल पर विश्राम लेती हुई, दृग्गोचर होती है। उस शान्ति-कुटीर में एक युवा संन्यासी बैठा है। विमल ने इस पुष्प-वाटिका के भीतर जाना चाहा। इस पर उसके हृद्‌गत भावों को जान कर ही मानो संन्यासी बोला—

"विमल दादा, यह पवित्र स्थान आरम्भ-शूरों के लिए नहीं। अभागे विमल ! तुमने केवल आरम्भ-शौर्य्य के वशीभूत होकर मेरा यह महत्तम अनुष्ठान करने का प्रण किया था। जाओ। अपने दायित्व-भार को समझो !"

विमल ने चौंक कर कहा—"ओफ ! सन्तू !!"

विमल की आँख खुल गई। उसने सिरहाने कमला को बैठे देखा। वह उठ कर बैठ गया।

सारा शरीर पसीने से तर था। कमला ने मीठे स्वर से पूँछा—

"क्या है ?"

विमल ने काँपती हुई भर्राई आवाज से कहा—"कमला ! यदि हृदय एंजिन का बाइलर होता तो भक् से फट जाता !!!"

१९१८

❀ ❀ ❀

प्रलय की रात्रि

श्री सुदर्शन

(१)

मेरे दफ्तर के क्लर्कों में साधुराम सबसे जूनियर था। उसका मासिक वेतन केवल पच्चीस रुपये था, परन्तु उसका काम सबसे अधिक और सबसे सुथरा होता था। मैंने उसे कभी दफ्तर में देर करके आते नहीं देखा, न मैंने कभी उसके काम में त्रुटि ही पाई। दस से चार बजे तक सिर नीचा किये वह बराबर अपने काम में लगा रहता था। कार्यवशात् यदि मैं कभी बाहर चला जाता तो सब क्लर्क काम छोड़ कर बातें करने लग जाते, परन्तु साधुराम इसे अधर्म समझता था, वह उस समय भी बराबर अपने कागजों पर झुका रहता था। मैंने उसे कभी किसी से लड़ते झगड़ते नहीं देखा। वह ऐसा भलामानस और सज्जन पुरुष था कि चपरासियों को "तू" कह कर नहीं

बुलाता था। कई बार मने साधुराम को चपरासियों से कोई काम कराने के लिए कहा, परन्तु उसे उसने अपने आप ही कर लिया। मैं इसे दफ्तर का अपमान समझता था और साधुराम को डाँट देता था, परन्तु वह इसे भी चुपचाप सहन कर लेता था। इतना ही नहीं, उसमें और भी कई गुण थे। वेतन थोड़ा होने पर भी उसके वस्त्र दूसरों से साफ होते थे, और मुख-मण्डल खिला हुआ फूल। मैंने उसे कभी उदास नहीं देखा। दफ्तर के दूसरे आदमी प्रायः अपना काम भी उसे ही सौंप दिया करते थे। कोई और होता तो जलकर कोयला हो जाता, परन्तु साधुराम के मस्तक पर बल न पड़ता था। वह उसे भी ऐसे परिश्रम और मनोवेग से करता, जैसे उसका निजी काम हो। उसके इन गुणों ने मेरे हृदय में अपना स्थान बना लिया, मैं उसे अपने कमरे में बुलाने लगा। तब मुझे मालूम हुआ कि उसका हृदय आत्मज्ञान का सरोवर है। बातचीत करते समय वह कभी रोब में नहीं आता था—वह जिस बात पर अड़ जाता था, उससे उसे हटाना सहज न था। मैं ज्यों ज्यों उससे अधिक परिचित होता गया, उसका प्रेम हृदय में घर करता गया, यहाँ तक कि मैंने उसे मकान पर बुलाना आरम्भ कर दिया।

अब वह प्रतिदिन सायङ्काल को मेरे यहाँ आता था, और घण्टों बातचीत करता रहता था। आठ दस दिन ही के बाद मेरे लड़के-बालों को उससे इतना प्रेम हो गया कि साँझ होते ही द्वार पर जा खड़े होते, और यदि उसे आने में कुछ भी विलम्ब हो जाता, तो व्याकुल से हो जाते। परन्तु साधुराम आत्मसम्मान को हाथ से नहीं जाने देता था। मेरी सम्मति में वह किसी दफ्तर का इन-चार्ज (Incharge) होने के योग्य था, परन्तु प्रारब्ध ने उसे कहाँ फेंक रक्खा था? सोना पीतल की खान में पड़ा था।

(२)

मुझे दफ्तर में आये हुए एक वर्ष हो गया। इस बीच में कई स्थान खाली हुए, जिनके लिए जूनियर क्लर्कों ने प्रार्थना-पत्र भेजे, परन्तु साधुराम ने ऐसा कोई प्रयत्न न किया। मैं जानता था कि साधुराम उनके लिए सब प्रकार से उपयुक्त है, और चाहता था कि अवसर मिले तो उसे किसी उच्च पद पर नियत कर दूँ, मगर वह इतना सीधा सादा और सन्तोषी था कि उसने एक बार भी मुझसे नहीं कहा कि मेरा ध्यान रखना। पहले पहल मैंने इसे अभिमान समझा और तरक्की का हर एक अवसर दूसरों को देता गया। साधुराम पच्चीस ही पर पड़ा रहा। वह मेरे पास प्रतिदिन आता था, मुझसे घण्टों बातचीत करता रहता था, मगर इस विषय में उसने एक बार भी कहने की आवश्यकता नहीं समझी। यहाँ तक कि उसके अभिमानी होने के बारे में मेरी सम्मति बदल गई, और मैंने निश्चय कर लिया कि अबकी बार साधुराम का ध्यान रखूँगा।

सौभाग्य से मुझे अधिक प्रतीक्षा न करनी पड़ी। रिकार्ड ब्राँच का एक क्लर्क छः मास के अवकाश पर जा रहा था। उसका वेतन ५०) था। दफ्तर के कई क्लर्कों ने अर्जियाँ दीं और अपने अपने स्वत्वों पर जोर दिया, पर साधुराम इस बार भी चुप रहा, जैसे इस घटना का ज्ञान ही न था। वह उसी तरह शान्त था, परन्तु मुझे शान्ति न थी। सन्ध्या का समय था, वह नियमानुसार मेरे घर आया। मैंने छूटते ही कहा—"साधुराम! तुमने कुछ सुना?"

साधुराम ने बैठते हुए पूछा—"क्या?"

"गुलाम नबी छः मास के अवकाश पर जा रहा है।"

साधुराम का मुख-मण्डल तमतमा उठा, जैसे किसी ने गाली दे दी हो, तथापि सँभल कर बोला—"जी हाँ, सुना है।"

"उसके लिए बहुत से क्लर्कों ने प्रार्थना-पत्र भेजे हैं।"

"जी।"

"परन्तु तुमने कोई प्रयत्न नहीं किया, यह तुम्हारा अधिकार है।"

साधुराम ने बेपरवाही से उत्तर दिया—"मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं।"

मैंने आश्चर्य से पूछा—"क्या कहते हो? तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं?"

"रत्ती भर भी नहीं।"

"तो उन्नति के समग्र अवसर हाथ से खो दोगे?"

"यह आपका काम है। गवर्नमेंट ने यह उत्तरदायित्व-पूर्ण अधिकार आपको दिया है। अब यह निर्णय करना

आपका काम है और काम ही नहीं, प्रत्युत कर्त्तव्य है, कि वेतन-वृद्धि का जो अवसर आये, उससे वही आदमी लाभ उठाये जो वास्तव में इसका अधिकारी हो। यदि आप अपने इस कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रखते तो परमात्मा के दरबार में आप अपराधी होंगे। मुझे प्रार्थना-पत्र देने की क्या आवश्यकता है। क्या मेरा काम आपके सामने नहीं है ?"

मैं साधुराम को नेक, परिश्रमी, और आत्माभिमानी पुरुष समझता था, परन्तु वह ऐसा निर्भय और खरी खरी मुँह पर सुनाने वाला भी होगा, इसकी मुझे स्वप्न में भी आशा न थी। उसकी इन बातों ने उसकी पदवी मेरी आँखों में और भी ऊँची कर दी। मैं लज्जित सा होकर बोला—"साधुराम! तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं, अब भूल न होगी। यह जगह तुम्हीं को मिलेगी।"

साधुराम बोला, "इसका कारण यह तो नहीं कि मेरा आपके यहाँ आना जाना बना हुआ है। यदि यह वेतन-वृद्धि मुझे इस कारण से मिलती है, तो मैं इसे कभी स्वीकार न करूँगा। हाँ, यदि सचमुच आप यह समझते हैं कि मेरा काम अच्छा है, और मैं इस वृद्धि के योग्य हूँ, तो दूसरी बात है।"

क्या शब्द थे, मेरे हृदय में तीर से चुभ गये, सिर झुका कर बोला "मेरा वास्तव में यही विचार है कि इससे पहले तुम्हारे साथ अन्याय होता रहा है। अब यह चान्स हाथ आया है, इसे न जाने दूंगा।"

साधुराम ने नम्रता के साथ—उस नम्रता के साथ जिसमें आत्म-गौरव का भाव झलकता था—कहा—"Thank You"

अँगरेजी सभ्यता के यह दिखावे के शब्द मैंने कई बार सुने थे, और प्रत्येक बार यही अनुभव किया था कि यह निरर्थक हैं—सर्वथा व्यर्थ और निष्फल, परन्तु वही शब्द साधुराम के मुँह से सुनकर ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी को कुबेर का धन मिल गया हो।

दूसरे दिन गुलाम नबी की जगह साधुराम नियुक्त हो गया, दफ्तर में हलचल सी मच गई, सारे क्लर्क साधुराम के शत्रु हो गये। कदाचित् उनका यह विचार था, कि साधुराम काम करने के लिए है, और वे वेतन-वृद्धि लेने के लिए। परन्तु मेरे इस निर्णय ने उनका यह भ्रम दूर कर दिया, और वे साधुराम को सताने लगे। कोई कहता इससे जरा सोच समझ कर बात करना, सुपरिन्टेंडेंट की मूँछ का बाल है। कोई कहता, वेतन-वृद्धि का मूल मन्त्र चापलूसी है, यह साधुराम ने सीख लिया है। कोई कहता, हाकिम के बच्चों को मिठाई खिलाई जावे तो हाकिम दयालु हो जाता है। कोई कहता, हम तो इसे धर्मात्मा समझते थे, परन्तु यह पता न था कि इस किरण के पीछे ऐसा अन्धकार भी हो सकता है। कोई कहता, मनुष्य की प्रकृति को समझना सहज नहीं, यह बात साधुराम ने सिखा दी। परन्तु साधुराम पर इस आँधी का जरा भी असर न पड़ा। वह जिस तरह पहले प्रफुल्ल-वदन रहता था, उसी प्रकार अब भी खिला रहता। न उसे पद-वृद्धि ने अभिमानी बनाया न क्लर्कों के विरोध ने दुखी किया—मेरी आँखों में उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। खयाल आया, कैसा पवित्र जीवन है, जो सदा एकरस रहता है, शत्रुता का जिस पर कोई प्रभाव नहीं, पक्षपात से रहित, सदैव सब अवस्थाओं में प्रफुल्ल-वदन, जिसके मस्तक पर कभी बल नहीं आता, और जो आत्मसंयम में ऐसा अचल और अटल है, जैसे समुद्र में चट्टान।

(३)

परन्तु यह वृद्धि साधुराम को रास न आई। उसकी स्त्री बीमार रहने लगी। साधुराम में जहाँ और गुण थे, वहाँ उसमें यह गुण भी था कि वह अपनी स्त्री पर प्राण देता था। वह सब कुछ सह सकता था, परन्तु स्त्री के आँख में आँसू देखकर उसके हृदय में हलचल मच जाती थी—वह अधीर हो जाता था। कई मास तक चिकित्सा होती रही, मगर रोग दूर न हुआ। साधुराम घबरा गया, जिस प्रकार तूफान में नौका डोलने लगती है। उसके चेहरे पर वह कान्ति न थी, आँखों में तेज न था। फूल रह गया था, मगर उसका लावण्य कहाँ उड़ गया, यह किसी को भी मालूम न हो सका। मैं उसे देखता तो हृदय व्याकुल हो जाता। साधुराम अब वह पहला साधुराम न था। वह दफ्तर में अब भी आता था, काम अब भी करता था, परन्तु वह पहली बात न थी। जिस सन्तोष की मूर्ति ने वेतन-वृद्धि के अवसर हाथ से जाते देख कर मुँह न खोला था, जिस गम्भीर सूरमा ने दफ्तर के क्लर्कों

की सर्वथा अनुचित नोक-झोंक पर आन न छोड़ी थी, वही साधुराम अब प्रतिदिन मेरे पास आकर छुट्टी के लिए मिन्नतें करता था। और मैं—हाँ मैं उसके इस परिवर्तन पर प्रसन्न था, क्योंकि मैं उसे देवता नहीं मनुष्य देखना चाहता था। और मनुष्य की प्रकृति का गुण है कि बड़े से बड़े धैर्य्यधारी हृदय भी एक विशेष सीमा पर पहुँच कर विचलित हो जाते हैं।

इसी प्रकार कई मास बीत गये। साधुराम तन मन से स्त्री की सेवा-शुश्रूषा में तल्लीन रहा। उसका मुँह कुम्हला गया था, हँसी खुशी जा चुकी थी, फिर भी सेवा-शुश्रूषा में लगा हुआ था। दिन भर दफ्तर में काम करता, रात को स्त्री के सिरहाने बैठता, स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। परन्तु उसका इधर ध्यान न था, वह प्राणों की सम्पूर्ण शक्ति से अपनी स्त्री की चिकित्सा कर रहा था। मैं उसे प्रायः छुट्टी दे दिया करता था। उस समय उसकी आँखों में कृतज्ञता और बेबसी के भाव कैसे हृदय-भेदी होते थे?

दोपहर हो गई थी, मैं अपने कमरे में बैठा बिल देख रहा था, इतने में चपरासी ने आकर कहा, "हुजूर! लाला सौदागरमल आये हैं।"

लाला सौदागरमल के यहाँ से हम कागज खरीदा करते थे। इस समय उनका आना मुझे बहुत बुरा लगा, मगर फिर भी चपरासी से कहना पड़ा—"बुला लो।"

लाला सौदागरमल अन्दर आये, और आते ही बोले, "क्षमा कीजिएगा, मैं एक शिकायत लेकर आया हूँ।"

कागज का क्रय-विक्रय साधुराम के हाथ था। मैंने हिचकिचाते हुए उत्तर दिया—"कहिए।"

सौदागरमल कुछ क्षण चुप रह कह बोले—"मैं बाहर गया हुआ था, मेरी अनुपस्थिति में आपके क्लर्क साधुराम ने मेरे आदमी से मिल कर जाली बिल बनवा लिया है, और इस उपाय से चार सौ रुपया उड़ा लिया है।"

मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे किसी ने कलेजे पर कोयले रख दिए हों, कुर्सी से उछल कर बोला—"मुझे विश्वास नहीं होता।"

"बुलवा कर पूछ लीजिए। अभी सब बात खुल जायगी।"

"परन्तु पूछूँ क्या? वह ऐसा मनुष्य ही नहीं। सारा दफ्तर उसकी सौगन्ध खाता है।"

"फिर भी तनिक बुलवा तो लीजिए।"

मैंने साधुराम को बुलवाया और उसे सिर से पाँवों तक देखते हुए पूछा "मेरे पास कागज के सम्बन्ध में कुछ शिकायत पहुँची है। क्या यह सच है?" साधुराम के मुख का रंग मृतक के समान सफेद हो गया। उसने मेरी ओर इस प्रकार देखा, मानो मैं उसका बध करने लगा था। साथ ही लाला सौदागरमल की ओर दृष्टि डाली। इस दृष्टि में आँसू थे, और आँसुओं की ओट में बेबसी छुपी हुई थी। मैंने अधीर होकर पूछा—"बोलो! क्या यह सच है!"

साधुराम ने कुछ क्षण तक सोचा, और तब साहस से उत्तर दिया—"जी हाँ! सच है।"

"तुमने कितना रुपया खाया है?"

"चार सौ।"

मैंने उसकी आँखों में अपनी आँखें डालकर कहा—"तुम मानते हो?"

"जी हाँ। नहीं कैसे कर सकता हूँ। भूल हो गई। अब आपकी दया पर हूँ। चाहे बचा लें, चाहे जीवन नष्ट कर दें।"

साधुराम ने इस समय तक जो न किया था वह आज किया। उसके मुख-मण्डल से आत्मसम्मान का भाव इस प्रकार लुप्त हो गया था, जैसे सफेदी को स्याही भगा देती है। यह देखकर मेरे हृदय पर गहरी चोट लगी। यही अपराध यदि दफ्तर के किसी दूसरे आदमी से होता, तो मैं उस पर इतना ध्यान न देता, और डिपार्टमेंटल कार्य्यवाही करके दबा देता। परन्तु इस पाप में साधुराम का हाथ देख कर मुझे विष चढ़ गया। मैं उसे कितना नेक समझता था, उस पर कितना भरोसा करता था। मुझे कभी उसपर सन्देह तक नहीं हुआ था। मगर आज उसने अपनी साख गँवा दी। मैंने ठण्डी साँस भरी और कहा—"साधुराम! मुझे तुमसे यह आशा न थी।"

(४)

पापी का सिर ऊँचा नहीं उठता। साधुराम ने भूमि की ओर देखते हुए उत्तर दिया—"साहब! अब तो हो

गया ! इस बार क्षमा कर दीजिए, फिर आजीवन कोई अपराध न होगा। सच कहता हूँ यह मेरा पहला पाप है, और यदि आप दया कर दें तो यही अन्तिम हो जायगा"

मैं क्रोध से पागल हो रहा था—झल्ला कर बोला—"मैं तुम दोनों को पुलिस के हवाले कर दूँगा।"

साधुराम के पाँवों से पृथ्वी खिसकती हुई प्रतीत हुई, शरीर काँपने लगा। किसी दूसरे समय में यह दृश्य मेरे क्रोध पर जल का काम कर जाता, मगर इस समय वही दृश्य तेल बन गया। मैंने कड़क कर कहा—"यह नहीं हो सकता, और यह नहीं होगा।"

सौदागरमल उठ कर चले गये, मेरे क्रोध की मात्रा और भी बढ़ गई। मैंने फोन का रीसीवर हाथ में लिया और पुलिस लाईन का नम्बर माँगा। साधुराम की आँखों में आँसू आ गये। रोते रोते बोला—"जनाब ! मेरी स्त्री बीमार थी ..... ।"

इससे आगे उसका कण्ठ रुँध गया। वह एक शब्द भी न बोल सका। मेरे सामने से पर्दा सा उठ गया। वह भद्रपुरुष जो सारे दफ्तर में सज्जनता की मूर्ति समझा जाता था, जिसका आत्मसम्मान लोगों के लिए आदर्श था, जिसकी नीयत पर शङ्का करना पाप था, जो सदा अपना सिर ऊँचा उठा कर चलता था, वही देवता इस समय अपराधी अभियुक्त की नाईं मेरे सम्मुख खड़ा था। परन्तु यह पाप—यह अपराध उसने लोभवश नहीं किया, धन की लालसा से नहीं किया। उसे अपनी प्यारी स्त्री की चिकित्सा के लिए रुपये की आवश्यकता थी। वह इस कठिन परीक्षा में फेल हो गया। पर क्या वह अपराधी था ? एकाएक मुझे स्मरण हुआ कि ऐसा समय मुझ पर भी आ चुका है। कई वर्ष हुए, मेरी स्त्री बीमार थी। उन दिनों मेरा मासिक वेतन बहुत थोड़ा था, दाल रोटी का खर्च भी कठिनाई से चलता था। इस पर घर में बीमारी, हाथ में पैसा तक न रहा, लाचार मित्रों से सहायता माँगी, मगर किसी ने परवाह न की। निराशा ने अँधेरा फैला दिया। इसी अँधेरे में पाँव धैर्य्य की शिला से फिसलते हैं, और सत्य मार्ग आँखों से ओझल होता है। इसी प्रलय की रात्रि में मनुष्य आयु भर की कमाई लुटा बैठता है, और मोहरूपी डाकू उसे पाप के रास्ते पर डाल देता है। अधिक तेज दौड़ने वाला आदमी कभी कभी मुँह के बल गिर जाता है। उस समय मैंने मोह का सामना किया, पर कुछ बन न सका। बाजी हार गया। विचार आया, साधुराम के जीवन में भी वही प्रलय की रात आई हुई थी। अन्तर केवल इतना है कि इसका दोष प्रकट हो गया, मेरा अपराध अभी तक छिपा हुआ है। क्या इसी से मुझे यह अधिकार हो गया है कि मैं इसका जीवन नष्ट कर दूँ। मैंने फोन हाथ से रख दिया, स्मृति ने फिर अतीतकाल के दफ्तर खोल दिए। उस समय मैं कितना सहमा हुआ था। दिन रात यही सोचता रहता था कि यदि करतूत खुल गई, तो क्या होगा। लोग चकित रह जायँगे, कहेंगे, हम तो इसे महात्मा समझे हुए थे। वही अवस्था फिर मेरे सामने थी। मैंने सोचा, यदि इसे पुलिस के हाथ दे दिया, तो इसकी बीमार स्त्री का क्या हाल होगा। मेरी आँखों में आँसू झलकने लगे। साधुराम के लिए हृदय में सोया हुआ प्रेम जाग उठा। मैंने लम्बी साँस लेकर सिर उठाया और कहा—"साधुराम ! मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। परन्तु यह रुपया तुम्हें लौटाना होगा।"

डूबते हुए हृदय को सहारा मिल गया। साधुराम का चेहरा चमकने लगा, जैसे चाँद बदलियों से निकल आया हो। जो आनन्द फाँसी के तख्ते पर चढ़ते हुए अभियुक्त को अपनी मुक्ति का समाचार सुनने से होता है, वही आनन्द साधुराम को इन शब्दों से हुआ। वह घुटनों के बल बैठ गया, और मेरी ओर अश्रुपरिप्लुत नेत्रों से देख कर बोला—"यह उपकार आयु भर न भूलूँगा।"

इस घटना को कई वर्ष हो चुके हैं। साधुराम अब भी मेरे ही दफ्तर में काम करता है। वह आजकल १५०) पाता है, और बड़े मजे में है। उसने अपनी सच्चरित्रता से अपने पाप के कलङ्क को धो दिया है। दफ्तर के आदमियों की उस पर अटल श्रद्धा है। इतना ही क्यों, उसकी सज्जनता की धाक सारे नगर पर बैठी हुई है। वह प्रायः मेरे मकान पर आता रहता है। उसे देखकर मेरा हृदय फूल की नाईं खिल जाता है, और मेरे लड़के बाले तो उसे अपना गुरु समझते हैं। परन्तु अब भी जब कभी उसे वह प्रलय की रात याद आ जाती है तब उसके मुख-मण्डल पर बादल सा छा जाता है।

देश-द्रोही

श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

(१)

असहयोग आन्दोलन के प्रचार के लिए महात्मा गाँधी दौरा कर रहे थे। उनके साथ कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू नेता भी थे। वे जहाँ कहीं जाते थे वहीं जनता में सनसनी फैल जाती थी और बहुत से विद्यार्थी स्कूलों और कालेजों से असहयोग कर बैठते थे। आज कानपुर में उनका व्याख्यान सुनने के लिए सभा-स्थल पर बड़ी भीड़ इकट्ठी हुई थी। डी० ए० बी० कालेज के बोर्डिंग हाउस के प्रायः सभी लड़के बहुत उत्साहपूर्वक इस सभा में सम्मिलित हुए थे। यदि राघवशरण भी आ गया होता तो हमें 'प्रायः' शब्द प्रयोग करने की आवश्यकता न पड़ती। लेकिन वह लड़कों के जाने का समय होने के बहुत पहले ही अपनी पुस्तक लेकर क्या जाने कहाँ खिसक गया था। लड़के ताड़ गये कि सभा में न जाने के लिए राघव कहीं और जगह चला गया है। बोर्डिङ्ग से सभा-स्थल के रास्ते भर सभी विद्यार्थी राघवशरण की निन्दा करते रहे। कितना नीच आदमी है, महात्माजी का दर्शन करने तक नहीं आया अंगरेज-प्रोफेसरों की चापलूसी करने को कह दो उसकी जिह्वा न थके। रामदीन ने कहा, "हम सभी तो घर से पढ़ने आये हैं, कुछ राघवशरण तो अकेले ऐसे नहीं हैं, जिन्होंने पढ़ने का ठेका ले लिया हो।" सर्वसम्मति से यह मान लिया गया कि राघवशरण देश-द्रोही और नीच है।

व्याख्यान दे चुकने के बाद महात्माजी ने उन लोगों से हाथ उठाने को कहा जिन्होंने असहयोगी होना निश्चित कर लिया हो। रामदीन ने भी हाथ उठा दिया, उसके साथियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। रजिस्टर में उसका नाम लिख लिया गया। उसके मित्र बड़ी धूमधाम से उसको बोर्डिङ्ग लाये।

राघवशरण अपना कमरा बन्द करके अंगरेजी याद कर रहा था। जब शोर-गुल सुनाई पड़ा तो इस भय से कि कहीं लड़के आकर तङ्ग न करें वह भी रामदीन के स्वार्थ-त्याग की भूरि-भूरि प्रशंसा करने वाली मंडली में सम्मिलित हो गया। उसे देखकर सबने बनाना शुरू कर दिया।

एक ने कहा, "राघवशरण युनिवर्सिटी में इस साल तुम्हीं फर्स्ट आओगे क्या?"

दूसरे ने कहा "तहसीलदार का लड़का है क्या डिपटी कलक्टरी से भी गया?"

तीसरे ने कहा "भाई राघवशरण! डिपटी कलेक्टर हो जाना तो मुझे भी याद रखना।"

एक आदमी कहने वाला हो तो उसका जवाब भी मिले। राघवशरण को लज्जित होने के सिवा दूसरा चारा न रह गया। रामदीन के उत्साही प्रेमियों ने रामदीन की विदाई में प्रीति-भोज देना निश्चित किया। प्रति विद्यार्थी पर एक रुपया चन्दा लगा दिया गया। विद्यार्थियों में एक महोदय कविता भी करते थे। अभिनन्दन-पत्र में देने के लिए उन्होंने एक कविता भी बनाई, जिसकी कुछ निम्नलिखित पंक्तियाँ थीः—

> "धन्य तुम्हारी देश-भक्ति है हे प्रिय भ्रातृ हमारे।
> भारत माता की सेवाहित तन-मन-धन सब वारे।
> जी में आता है अनुगामी हम भी बने तुम्हारे।
> किन्तु परिस्थिति विफल बनाती यत्न हमारे सारे।
> हे छात्रालय-गौरव-वर्द्धक जाओ देश जगाओ।
> भारत का उद्धार करो नव-निर्मल कीर्ति कमाओ॥"

दूसरे दिन कोई आठ बजे सबेरे प्रीति-भोज और अभिनन्दन-पत्र देने का निश्चय किया गया। राघवशरण ने लोकमत के दबाव में पड़कर एक रुपया चन्दा तो दे दिया लेकिन क्लास के बहुत से आवश्यक कार्यों के कारण वह विदाई के जलसे में सम्मिलित न हो सका। एक-आध

घंटा तो वह दिलबहलाव के ख्याल से भी इस मंडली में व्यतीत कर सकता था, परन्तु उसे यह विश्वास था कि अभिनन्दन-पत्र का मामला १२ बजे दिन के पहले कभी नहीं समाप्त हो सकता और जब तक उतनी देर रहने का निश्चय न कर लिया जाय तब तक वहाँ जाना व्यर्थ ही है। यह सोचकर प्रीति-भोज के पहले ही भोजन बनाने वाले महराज से थाली लगाने के लिए कहकर वह बोर्डिङ्ग से चला गया। डेढ़ बजे कालेज की छुट्टी हो गई। रसोई-भवन में उसने महराज से पूछा तो मालूम हुआ कि दूसरे बाबू लोग उसके हिस्से का भोजन सफाचट कर गये। राघवशरण को भूख लगी थी। उसने झुँझलाकर पूछा "किस बाबू ने हमारा खाना खाया है?"

महराज—बाबू जी! एक बाबू ने खाना खाया हो तो नाम बताऊँ, सभी बाबुओं ने तो खाया, अब किसका नाम बताऊँ?

गुस्से में चूर होकर राघवशरण कमरे में आया और दरवाजे की भीतर वाली सांकल बंद करके पैंट वगैरह पहने हुए ही चद्दर ओढ़ कर चारपाई पर पड़ा रहा।

एक विद्यार्थी को पता लगा कि राघवशरण कालेज से आ गया है, उसने महाराज से सब बातें पूछकर अन्य लोगों को बतलाया। इस समय तक रामदीन के बोर्डिङ्ग छोड़ने की पूरी तैयारी हो गई थी, मित्रों ने अभी तक उसे इसीलिए रोक रक्खा था कि राघवशरण से मिलकर वह जाय।

राघवशरण अपने कमरे में लेटा हुआ है, यह पता लगते ही रामदीन को प्रेम और उत्साहपूर्वक आगे ठेलते हुए कुछ लड़के राघवशरण के कमरे के सामने आ पहुँचे। लड़कों ने किवाड़ें खटखटाईं, लेकिन खिड़की से दिखाई पड़ने वाले राघवशरण ने बड़ी देर तक नींद का बहाना किये रक्खा। एक लड़के ने कहा, "अजी चलो राघव सो रहा है, बेचारे को सोने दो, रात रात जगकर पढ़ता है।"

दूसरे ने कहा "सोने क्यों दें, हम तो जगावेंगे, रामदीन अब सदा के लिए जा रहा है, दोनों की भेंट तो हो जानी ही चाहिए।"

इसी बीच एक तीसरे विद्यार्थी ने जो बातों में न लगे रहकर दरवाजे की भीतरी साँकल खोलने की हिकमत कर रहा था, सफलता प्राप्त कर ली और सबके सब लड़के धीरे से भीतर चले आये। राघवशरण चुपचाप पड़ा ही रहा, अब वह डर रहा था कि कहीं उसकी कलई न खुल जावे।

कमरे में पैठते ही लड़कों को अचानक एक खयाल सूझा—राघवशरण का सामान किसी कुतूहल-वर्द्धक ढंग से सजाया जाय। रामदीन की मौन तथा अन्य समस्त विद्यार्थियों की प्रकट सम्मति से यह कार्य शुरू किया गया। मसहरी की लकड़ियों में कोट और पैंट वगैरह पहनाकर तथा एक कागज का विशाल चेहरा, जिसके माथे पर बड़े-बड़े अक्षरों में देशद्रोही राघवशरण फर्स्ट क्लास डिपटी कलेक्टर लिखा था, कीलों के सहारे स्थापित कर वह मूर्ति एक कुर्सी पर बैठा दी गई। कुर्सी के सामने एक मेज पर कुछ सरकारी कागजात रख दिये गये। मेज के उस तरफ एक दूसरे आदमी का शरीर भी इसी तरह बनाया गया। केवल अन्तर इतना था कि वह खद्दर-पोश के रूप में खड़ा रक्खा गया, इस काम के लिए मेज के पाये के साथ वह अच्छी तरह बाँध दिया गया। इस आदमी का चेहरा भी कागज का बनाया गया और उसके माथे पर लिखा गया 'देशभक्त रामदीन'। डिप्टी साहब के हाथ में एक कागज रख दिया गया जिसमें लिखा था, "जनता में राजद्रोह फैलाने के अपराध में तुम्हें छः महीने की कड़ी कैद।"

सब कुछ ठीक हो गया था, लेकिन मेज पर रखने के लिए कोई कपड़ा नहीं था। लड़कों की दृष्टि उस चद्दर पर गई जिसे राघवशरण ओढ़े था। एक ने कहा कि—"राघव सो रहा है, साथ ही जाड़े की ऋतु है नहीं। इस दशा में यदि कोई धीरे से उसकी चद्दर को खींच सके तो काम बन जाय।" दूसरे ने कहा—"खींच तो लूँ मैं पर डरता हूँ कि कहीं यह जग न जाय और सब मामला ही बिगड़ जाय।" इधर ये बातें हो रही थीं उधर जिस लड़के ने सांकल खोली थी उसने धीरे-धीरे चद्दर खींच ली। सभी लड़के बहुत प्रसन्न हुए। चद्दर मेज पर बिछा दी गई। अब दृश्य पूरी तौर पर तैयार हो गया और आवश्यकता रह गई केवल इस बात की कि राघवशरण जागे और अपना रूप देखकर जले। रामदीन ने दबी जुबान से अपने मित्रों से कहा, "नाहक में किसी का हृदय क्यों दुखाते हो।"

रामदीन की बात सुनकर भी अनसुनी करके लड़कों ने राघवशरण को जगाने का निश्चय किया। एक ने कहा—"अजी राघव जाग रहा है और तुम्हारी सारी करतूत देख रहा है" दूसरे ने कहा "यदि वह सोता होता तो अब तक अवश्य जाग जाता। इतने शोर गुल होने पर भी वह नहीं जगा, इसी से यह प्रमाणित होता है कि वह जाग रहा है, क्योंकि कहावत है कि सोने वाला जाग जाता है परन्तु जागने वाला नहीं जाग सकता है।" तीसरे ने कहा, जागते-सोने की पहचान करनी हो तो मैं बताऊँ, राघवशरण की चारपाई को उठाकर टेढ़ी कर दो, यदि वह जागता होगा तो आप ही गिरने के डर से उठ खड़ा होगा और यदि सोता होगा तो जमीन पर गिर पड़ेगा।

रामदीन इस मामले को इतना नहीं बढ़ने देना चाहता था, लेकिन अब मनोरंजन की प्रगति को रोकना भी कठिन था। एक लड़के ने एक ओर और दूसरे ने दूसरी ओर हाथ लगाया, और चारपाई का उठना तथा राघवशरण का जमीन पर गिरना अब प्रायः कुछ ही मिनटों की बात थी कि इतने में क्रुद्ध, उत्तेजित, और छेड़े गये भुजंग की तरह राघवशरण उठकर खड़ा हो गया और तड़प कर बोला "रामदीन, तुमने असहयोग किया है तो क्या दूसरों को रहने नहीं दोगे?"

रामदीन चुप रहा, किन्तु उसके साथियों ने चिल्लाकर कहा "जागते थे, जागते थे, अरे यार इतना अधिक क्यों बनते हो? क्या भूख के मारे नींद नहीं आती थी?"

राघवशरण चुप रहा।

एक लड़के ने कहा, "कुछ लोग इतने नीच होते हैं कि स्वयं तो स्वार्थ-त्याग नहीं कर सकते, साथ ही स्वार्थ-त्यागियों का आदर भी नहीं कर सकते, आज दो घंटों में तुमने कितना पढ़ लिया और हमारा क्या बिगड़ गया? लेकिन यह तो हृदय की बात है। किसी का हृदय दुर्बल होते हुए भी स्वच्छ होता है और किसी का दुर्बलतापूर्ण होने के साथ साथ ईर्ष्या-द्वेष पूर्ण भी होता है।"

राघवशरण कुछ उत्तर न दे सका।

रामदीन ने अपने साथियों से कहा—"चलो यह झगड़ा हटाओ" सब लोग राघवशरण को नीच और देशद्रोही कहते हुए चले गये।

फा० ३०

(२)

धीरे-धीरे चार-पाँच साल बीत गये। असहयोग आन्दोलन वर्त्तमान के स्थान में भूतकाल की बात हो गई। इसी बीच रामदीन में जो कुछ परिवर्त्तन हुआ है उसका पता पाठक को "प्राचीन भारत" नामक समाचार पत्र के निम्नलिखित अवतरण से लग जावेगा—

"त्यागी, देशभक्त, अथवा असहयोगी व्यक्तियों से अब जनता को सावधान रहने की आवश्यकता है, क्योंकि धीरे-धीरे यह भी एक पेशा होता जा रहा है कि जिनको कोई दूसरा व्यवसाय नहीं मिलता वे कांग्रेस के देशभक्तों की सूची में नाम लिखाकर जनता को ठगने का काम आरम्भ कर देते हैं। अभी हाल में राघवशरण नामक एक कोषाध्यक्ष ने कांग्रेस के कोष का कई हजार रुपया हजम कर लिया है। और एक प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने विवश होकर महात्मा गाँधी के सिद्धान्तों के विरुद्ध अदालत में उक्त कोषाध्यक्ष के ऊपर नालिश दायर की है। ईश्वर देश को ऐसे स्वार्थियों से बचावे!" जबलपुर के ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट के सामने यह मुकदमा पेश हुआ।

(३)

राघवशरण बी० ए० में फर्स्ट होकर इंगलैंड चला गया था। वहाँ उसने सम्मानपूर्वक आई० सी० एस० की परीक्षा पास की और अब उन्नाव में अपने घर पर उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा है जब सरकार कहीं उसे ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट बनाकर भेजेगी। तहसीलदार, डिपटी कलेक्टर, थानेदार, डिपटी सुपरिन्टेन्डेन्ट सभी उससे मिलने आते हैं। पता नहीं पिछली बातें उसे याद हैं या नहीं, किन्तु, आज "लीडर" में रामदीन के सम्बन्ध में एक दोषारोपण पूर्ण पत्र पढ़कर वह चकित रह गया। पत्र-प्रेरक ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया था कि रामदीन ने कांग्रेस के रुपये से एक निजी मकान भी बनवा लिया है। राघवशरण को विश्वास नहीं हुआ क्योंकि वह वास्तव में रामदीन को सच्चा और ईमानदार व देशभक्त समझता था।

राघवशरण ने 'लीडर' के सम्पादक के पास एक पत्र लिखकर कुछ अधिक जानने की इच्छा प्रकट की।

दूसरे ही दिन उसे सरकारी आज्ञा-पत्र मिला जिसमें

जबलपुर के ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट से चार्ज लेने के लिए उसे लिखा गया था।

राघवशरण ने जबलपुर के लिए प्रस्थान कर दिया और डाकखाने को हिदायत कर दी कि उसकी चिट्ठियाँ उन्नाव से वहाँ को भेज दी जाया करें। चार्ज लेने के बाद जब उसने उन अभियोगों को देखना शुरू किया जिनका निर्णय उसे करना होगा तब वह एकाएक आश्चर्य में डूब गया—'लीडर' में जो कुछ निकल चुका था वह सच था। रामदीन के ऊपर मध्य-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने गबन का मुकदमा दायर किया था। थोड़ी ही देर बाद 'लीडर' कार्य्यालय से भी उत्तर आ गया।

राघवशरण के आश्चर्य्य में प्रसन्नता भी मिली हुई थी। रामदीन ही के कारण एक दिन उसने घोर अपमान सहन किया था। उस दिन उसे सभी नीच और देश-द्रोही समझ रहे थे। इसका बदला लेने का मौका आज आ गया था। इसीलिए वह रामदीन को देखने के लिए व्याकुल होने लगा। उसने बहुत पता लगाया, किन्तु मालूम हुआ कि वह कहीं बाहर गया है। राघवशरण उत्कण्ठा-पूर्वक रामदीन के मुकदमे की तारीख की बाट जोहने लगा।

रात को कोई आठ बजे होंगे। राघवशरण भोजन कर रहा था। किसी ने खबर पहुँचाई कि एक आदमी मिलने आया है। उसे सन्देह हुआ कि कहीं रामदीन ही न हो। एक नौकर को भेजकर नाम पुछवाया तो मालूम हुआ कि रामदीन ही है। यथाशीघ्र भोजन समाप्त करके वह बैठक में पहुँचा। बदला लेने का एक मौका मिलने से उसे जितनी प्रसन्नता हुई थी वह अब रामदीन को देखने से नष्ट हो गई। उसने आशा की थी कि यह रामदीन किसी हद तक अपनी पुरानी अकड़ तो रखता ही होगा, किन्तु, झुककर सलाम करने वाले रामदीन ने उसकी यह सारी धारणा निर्म्मूल कर दी। उसने देखा कि देशभक्त, त्यागी, और असहयोगी रामदीन का यदि कुछ भी अंश वर्तमान रामदीन में रह गया है तो यही कि खद्दर का कुर्ता और टोपी अब बेहयाई के साथ धारण कर रहा है। मस्तिष्क में इन विचारों के आते रहने पर भी राघवशरण ने उससे कुशल-वार्ता पूछी और कहा, "कहिए, मेरे योग्य कोई सेवा-कार्य्य है ?"

रामदीन ने नम्रता के साथ कहा—"इस समय तो मेरी लाज आपके ही हाथ में है।"

राघ०—सो कैसे ?

राम०—आप ही के इजलास में तो मेरा एक मुकदमा है।

राघ०—कैसा ?

राम०—यहाँ की प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने मुझपर गबन की नालिश की है, अनेक पत्रों द्वारा मुझे बदनाम भी कर दिया है।

राघ०—यह तो बड़ी नीचता की बात है। अवैतनिक देश-सेवकों की सेवा का क्या यही पुरस्कार है? अपने स्वार्थत्यागी देशभक्तों का आदर क्या यह देश इसी प्रकार करेगा ?

राम०—मेरी कुछ सहायता कीजिएगा ?

राघ०—भला इसके कहने की भी जरूरत है? आखिर बात क्या है ?

राम०—बात यह है कि यहाँ के कुछ लोग ईर्ष्या और द्वेष के वशीभूत होकर मुझे हानि पहुँचाने का उद्योग कर रहे हैं।

राघ०—और कुछ नहीं ?

रामदीन ने दबी जबान से कहा, "और कुछ नहीं।"

राघवशरण को रामदीन का यह घोर पतन असह्य हो गया, किन्तु, अपने भाव को दबाये रखकर वह थोड़ी देर तक चुप रहा। रामदीन ने फिर कहा, "आपके ऊपर मेरा थोड़ा सा अधिकार है, इसी से इस समय आपसे विशेष सहायता की आशा करता हूँ। राघवशरण ने उत्तर दिया, "मैं आपकी सहायता करने का उद्योग अवश्य ही करूँगा।" यह कहकर वह कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और बिदा लेकर विश्राम भवन में चला गया। रामदीन भी अपने स्थान को चला गया।

(५)

दूसरे दिन से मुकदमा शुरू हुआ। रामदीन की ओर से एक बैरिस्टर साहब इलाहाबाद से आये थे। दोनों पक्षों की बहस समाप्त होने पर ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट ने रामदीन

को दो वर्ष की कड़ी सजा सुनाते हुए अपने फैसले में निम्नलिखित बातें भी कहीं:—"यह बड़े खेद की बात है कि जिन लोगों से स्वार्थ-त्याग, देशभक्ति, और सदाचार की आशा की जाती है वे ही सार्वजनिक संस्थाओं में प्रवेश करके नीच से नीच श्रेणी के स्वार्थ की उपासना में रत होते और देश-द्रोह करते हैं। कार्य-कर्त्ताओं की यह स्थिति किसी भी देश के लिए शोचनीय है, किन्तु भारतवर्ष में तो इससे बहुत बड़ी हानि की संभावना है। वर्त्तमान अपराधी उच्च कोटि का शिक्षा-प्राप्त है और इसी कारण किसी भी प्रकार की सहानुभूति का पात्र नहीं है।

१९२६

❀ ❀ ❀

अनाश्रित

श्री इलाचन्द्र जोशी

जब द्वारिका बाबू दिन भर की कड़ी मिहनत के बाद शाम को दफ्तर से मकान में पहुँचे तब उनका लड़का दीनदयाल अपनी छोटी बहन दामिनी के बालों की लट पकड़ कर उसे घूँसे मार रहा था। असहाय लड़की रो रही थी। उसका आर्त्त स्वर बड़ी तीव्रता के साथ उसके कानों में गूँजने लगा। थके-माँदे घर में आये हुए थे। अपने उद्धत, अशिक्षित लड़के का ऐसा नीच व्यवहार उनसे सहा नहीं गया। उन्होंने उसे पकड़कर ऐसे बेतरह पीटना आरम्भ किया कि दामिनी भी अपना रोना भूलकर विह्वल, व्याकुल, होकर ताकती रह गई। सूवर, हरामजादा, पाजी छोकरा, परले सिरे का गँवार, इत्यादि विभूषणों से भूषित करके, अन्त को फिर उसके मुँह में और दो तमाचे जड़के, द्वारिका बाबू शान्त हुए। दीनदयाल रोता, चिल्लाता हुआ, "खूब मजे से मारूँगा, फिर मारूँगा, मुझे किसी का डर नहीं है", कहता हुआ तेजी से बाहर को भाग निकला। द्वारका बाबू दुस्सह व्यथा से व्यथित होकर बिस्तर पर जाकर लेट गये। अपरिसीम वेदना की गाढ़ अंकित रेखा उनके चेहरे में साफ झलक रही थी। दामिनी उनके मुँह की ओर नहीं ताक सकी। भीतर उसकी बड़ी जीजी मञ्जुला चाय बना रही थी, उसी के पास जाकर बैठ गई।

द्वारिका बाबू बिस्तर पर लेटकर नाना प्रकार की चिन्तायें करने लगे। यदि उनकी स्त्री आज जीवित होती तो गृहस्थ के अनेक झंझटों से बचे रहते। इटावे के एक सरकारी दफ्तर में वे काम करते थे। मासिक पचास रुपये में किसी तरह गुजारा कर रहे थे। उनके एक लड़का और पाँच लड़कियाँ थीं। बड़ी लड़की मञ्जुला बीस वर्ष की उम्र में विधवा होकर चार साल से उन्हीं के पास रहती थी। कान्ति मञ्जुला से दो साल छोटी थी। उसके पति कानपुर के किसी मिल में नौकर थे और सत्तर रुपये के करीब तनख्वाह पाते थे। दीनदयाल की उम्र सोलह-सत्रह साल की हो चुकी थी पर वह अब तक अच्छी तरह से नागरी के अक्षर भी नहीं पढ़ सकता था। बिलकुल उच्छृंखल हो गया था। द्वारिका बाबू के कुछ भी कहने पर उन्हें भी उलटी-सीधी पचास बातें सुना देता था। अड़ोस-पड़ोस के सभी भले आदमी उससे डरते थे। एक साल पहले जब उसकी मा न्यूमोनिया से मरी थी तब वह बहुत रोया था और कुछ दिन तक बहुत शान्त-शिष्ट होकर रहा था। पर फिर वही पुरानी उग्र मूर्त्ति लेकर धूर्त्तता में लग गया। दामिनी आठ साल की हो गई थी। वह बड़ी चतुर थी और देखने में भी बड़ी सुन्दर थी। दामिनी से छोटी वृन्दा और राधा नाम की दो और लड़कियाँ थीं। एक की उम्र छः साल की और दूसरी की चार साल की थी। दोनों इस वक्त बाहर सड़क में खेल रही थीं। थोड़ी देर के बाद वे दोनों भीतर पहुँचीं और द्वारिका बाबू के ऊपर चिपटकर बड़े आह्लाद से उछल-कूद मचाने लगीं। बड़ी लड़की वृन्दा ने पूछा, "बाबू जी, आज हमारे लिए बाजार से खाने को कुछ नहीं लाये ?" द्वारिका बाबू कभी मूँगफली, कभी कुछ मिठाई ले आते थे और लड़कियों को अपने हाथ से खिलाते थे। आज कुछ नहीं लाये थे। उन्होंने कहा, "आज रात को जब घूमकर लौटेंगे तब ले आयेंगे।" वृन्दा रोने

की आवाज बनाकर कहने लगी, "रात को क्या करूँगी, इस वक्त भूख से मरी जाती हूँ। दिन भर कुछ नहीं खाया है। जीजी दिन को हमारे लिए रोटी भी नहीं बना देती।" इतनी सी लड़की की सयानी बातें सुनकर और उसके दुःख की वास्तविकता का अनुभव करके द्वारिका बाबू के मन में अपनी जटिल स्थिति की समग्रता की छवि झलकने लगी। एक लम्बी साँस लेकर वे चुप हो रहे।

दो लड़कियों के विवाह में उनकी पैतृक सम्पत्ति स्वाहा हो चुकी थी। स्त्री की बीमारी का कर्ज अभी ताजा पड़ा हुआ था। डाक्टर तथा हकीमों के इलाज के सम्बन्ध में उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रक्खी थी। पर "यमराज-सहोदरों" से कोई सहायता नहीं मिली। तीन लड़कियाँ अभी द्वारिका बाबू के कथनानुसार उनसे अपने पूर्वजन्म का ऋण वसूल करने के लिए उनकी वज्र की छाती में हत्या देकर बैठी थीं। लड़का यदि शिष्ट-शान्त और शिक्षित होता तो उसके बल पर कमर बाँध कर वे किसी न किसी तरह दिन गुजारते। पर वह ऐसा नालायक निकला कि उसकी वजह से बाहर लोगों को मुँह दिखाने में लज्जा मालूम होती थी। आज किसी का गिरह काट लाया तो कल किसी का कैश बक्स तोड़ लाया। कब "कृष्ण भवन" की यात्रा को चल पड़े इसी दहशत से उनका दिन भर काम में मन नहीं लगता था और रात को नींद हराम हो गई थी। द्वारिका बाबू इन्हीं बातों की चिन्ता में मग्न थे कि मञ्जुला चाय ले आई। चाय में दूध और चीनी की काफी किफायत थी और उसके साथ खाने को कुछ नहीं था। पर इसी फीके गरम पानी से उन्हें बड़ा आराम मिला। मञ्जुला वृन्दा और राधा को भीतर चाय पिलाने के लिए ले गई।

द्वारिका बाबू की स्त्री की मृत्यु के बाद उनके घर का सब काम मञ्जुला ही करती थी। पर वह बहुत भोली थी, सांसारिक व्यवहार में निपुण न थी। इस कारण उनकी वर्तमान स्थिति में उससे कुछ भी सान्त्वना उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती थी। परन्तु उसे देखकर उनकी चिन्ता अधिक बढ़ती थी, यद्यपि उसके बिना वे भोजन भी नहीं पा सकते थे।

चाय पीकर द्वारिका बाबू बाहर हवाखोरी के लिए निकल पड़े। पर चित्त में बड़ी बेचैनी थी। सबसे बड़ा काँटा उनके हृदय में लड़के की नादानी के कारण चुभा हुआ था। उन्हें फिर फिर उसी का खयाल हो आता था। वे सोच रहे थे कि इतनी उम्र उसकी हो चुकी है पर अभी तक वैसा ही हाल है। पढ़ना-लिखना जाय चूल्हे में, अगर शान्त होकर घर में बैठा रहता तो भी उसके लिए आध सेर अन्न का बरबाद होना उन्हें नहीं अखरता। पर उसका ढंग ही दूसरा था। सोचते सोचते उत्कट प्रतिहिंसा के भाव से उनका खून खौलने लगा। लड़के ने उन्हें इतना तबाह कर दिया था कि वे आन्तरिक मन से उसकी मृत्यु की आकांक्षा करने लगे। चटपट किसी सख्त बीमारी से लड़के के प्राण-पखेरू उड़ जाते तो वे देवता का परम आशीर्वाद समझते। लेकिन ऐसा वज्रप्राण लेकर यह धूर्त्त लड़का उत्पन्न हुआ था कि मरने का नहीं। वे मन में उसकी मृत्यु का दृश्य अंकित करने लगे। वह खाट में पड़ा पड़ा कराह रहा है। अपने आपे में नहीं है। डाक्टर अंतिम मत देकर बिदा हो गया है। कानपुर से कान्ति आई हुई है और अपने स्नेह-सुकोमल मातृहृदय में दुस्सह व्यथा की वेदना अनुभव करके अपनी छाती को चीर कर फाड़ देना चाह रही है। मञ्जुला भी अपना अनुत्तेजित पर स्नेह-मण्डित स्वभाव लेकर बिलख बिलखकर रो रही है। उनकी छोटी लड़कियाँ किसी अपरिचित आशंका से चकित होकर यह सब दृश्य देख रही हैं। ऐसी स्थिति में उनके अपने हृदय का भाव कैसा रहेगा? वे क्या तब प्रसन्न मन से इस मुमुर्षु लड़के की मृत्यु की बाट जोहेंगे? इस अनाथ, मातृहीन लड़के की अन्तिम गति के चित्र की इस प्रकार कल्पना करते करते आरम्भ से ही उनकी आँखें उनके अनजान में सजल हो आई थीं। इस बात का खयाल उन्हें तब हुआ जब पूरा दृश्य भली भाँति अपनी विभीषिका लेकर उनकी आँखों के सामने झलकने पर उनके आँसू प्रबल वेग से उमड़ चले और उनके झुर्रियाँ पड़ी हुई गालों को भिगो कर शीतल करने लगे।

अत्यन्त व्याकुल होकर अन्यमनस्क भाव से टहलते टहलते वे शहर से बाहर एक जंगल में जा खड़े हुए। एक पेड़ के नीचे बैठकर, अपने को निपट असहाय तथा निरुपाय समझकर हृदय की समस्त भक्ति तथा श्रद्धा एकत्र करके भगवान् से प्रार्थना करने लगे। अपनी इस अनन्य-गति में वे अपनी शीघ्र मृत्यु के अतिरिक्त अन्य किसी भी श्रेष्ठ वरदान की आकांक्षा नहीं कर सकते थे। पर असहाय

बाल-बच्चों के दारुण विलाप से मृत्युशय्या में मोह होने के कारण मरने के बाद भी उन्हें सद्गति मिलनी कठिन होगी, सोचते सोचते द्वारिका बाबू अत्यन्त अवसन्न तथा क्लान्त होकर निरुपायावस्था में पेड़ के तले पाँव पसार कर लेट गये। अपने जीने-मरने के सम्बन्ध में कुछ भी विवेचना न कर सकने के कारण, इस विपुल विश्व में अपनी गतिहीनता का विचार करके, चरम भ्रांति से विमूढ़ होकर उस स्तब्ध जंगल की अपरिसीम नीरवता में अपने दुर्दमनीय मन की गति को एकाकार करने की चेष्टा करने लगे। बहुत देर तक विचारशून्य होकर जड़भाव से वहीं पर लेटे रहे। अँधेरा होने लग गया था। पर पाँव किसी तरह ऊपर को उठना नहीं चाहते थे। अनन्त काल तक यदि उसी तरह से जड़ तथा विश्रान्त होकर लेटे रहने का उपाय होता तो द्वारिका बाबू लेटे ही रहते। पर यह वायु-तुल्य बन्धन-हीन मन ऐसा निर्लज्ज है कि किसी भी स्थिति और काल का विचार नहीं करता। अन्त को उन्हें उठना ही पड़ा। घर की तरफ पैर पड़ते ही फिर दीनदयाल की प्रचण्ड मूर्ति आँखों के सामने आकर नाचने लगी। उसका उद्धत तथा मुँहफट स्वभाव, शराबी की तरह चढ़ी हुई लाल लाल आँखें, प्रेत का-सा लम्बा और दुबला-पतला शरीर, चमगादड़ के से तीखे और आदमी के चमड़े में चिपट जाने वाले पंजे, इत्यादि सभी विशेषतायें उनके मन में दर्पण की तरह स्पष्ट प्रतिभात हो रही थीं। वे व्याकुलभाव से मन-ही-मन भगवान् को पुकारकर कहने लगे, "जिस उत्कट पाप के दण्ड के स्वरूप इस लड़के को तुमने मेरे पास भेजा है उसका प्रायश्चित्त क्या अभी पूरा नहीं हुआ है? मैं आन्तरिक मन से उसके लिए अब क्षमा चाहता हूँ देवता! अब यह विकट ज्वाला किसी तरह नहीं सही जाती। तुम्हारा रुद्र रूप ही मेरी नजर में आ रहा है। करुणा का एक छींटा डालने की कृपा तो करो!"

जब वे मकान में पहुँचे तब वृन्दा और राधा सो गई थीं। मंगला रोटी बना रही थी और दामिनी बैठी रोटी खा रही थी। दीनदयाल अभी नहीं आया था। वह ग्यारह बारह बजे से पहले किसी भी रात को नहीं आता था। उसके आने तक मंगला को नित्य बैठे रहना पड़ता था। सन्ध्या-पूजा से निपटकर, द्वारिका बाबू खाना खाने बैठे। दो-एक फुलके खाकर हाथ-मुँह धोया और बिस्तरे पर जाकर लेट गये। वृन्दा और राधा भी उन्हीं के साथ सोया करती थीं। वे पहले से ही उनकी चारपाई में जाकर सोई हुई थीं। कहीं उनकी नींद न टूट पड़े, इस खयाल से द्वारिका बाबू चुपके से दुबककर एक ओर लेटकर नाना दुश्चिन्ताओं में निमग्न हो रहे। वे सोचने लगे कि इस वक्त तो रहने के लिए मकान भी है, सोने के लिए चार-पाई भी है, भोजन के लिए मुट्ठी पर अन्न भी प्राप्त है। पर बापदादों का बनाया हुआ यह मकान बन्धक में पड़ा है। अगर साहूकार लोग कल ही बिगड़ खड़े हुए और सारा मकान कुर्क हो गया तो कहीं पाँव रखने को तिल भर ठौर भी नहीं मिलेगा। अपना ऐसा कोई मित्र भी नहीं है जो दया करके बाल-बच्चों को अपने पास रख ले। बल्कि सभी बन्धु-बान्धव उत्सुक होकर इसी बात की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब इस मकान से वे लोग निकाले जायँ और कब तमाशा देखने में आवे। ऐसी स्थिति में निस्सहाय पुत्र-कन्या को लेकर वे किस जंगल में जायँगे? किराये में यदि कोई दूसरा मकान लिया जाय तो वे लोग खायँ क्या? पचास रुपये में कैसे इतने जनों के पेट का गुजारा होगा, कैसे रहने का! इस विपुल विश्व में तिनके के बराबर भूमि भी उनकी अपनी कहने को नहीं रहेगी। करुणा तथा क्षमा की मूर्त्ति माता वसुमती इतने पापियों को अपने क्रोड़ में धारण किये हुई हैं, इतने निष्ठुर पिशाचों के जूतों की ठोकरों से उनका वक्ष-स्थल क्षत-विक्षत होता जाता है, पर उनका और उनके बाल-बच्चों का लघुभार वे किसी तरह भी नहीं सहना चाहतीं। एक अनन्त-व्यापी अभिमान के भाव से उनका हृदय भर आया और आँसू उमड़ने को ही थे कि उन्होंने अपने को रोका। वे सोचने लगे कि यह अभिमान किसके प्रति है? जो देवता लाखों गृहहीन, अन्न-हीन अनाथों की प्रति दिन की आह से नहीं पिघलता, जिसको अकपट मन से स्मरण करते करते लाखों आदमी प्रति दिन हाय अन्न! हाय अन्न! कहकर तड़फते तड़फते प्राण त्याग रहे हैं, उस निखिल-संहारक रुद्र के प्रति अभिमान प्रकट करने से क्या लाभ होगा?

कुछ देर तक स्तब्ध रह कर उन्होंने करवट बदली और एक लम्बी साँस लेकर, निरुद्विग्न तथा निश्चिन्त होकर वे सोई हुई मातृहीन लड़कियों के ऊपर धीरे से हाथ फेरने लगे। एक लड़की के विवाह से उनकी हालत इस कदर गिर गई थी, अभी तीन लड़कियाँ और पड़ी हुई थीं। उनका सिर भनभनाने लगा और मस्तिष्क की

एक खास नस बड़ी तीव्रता से दुखने लगी। उन्होंने समझ लिया कि इन कड़वी बातों में अधिक मग्न रहने से मस्तिष्क की कोई शिरा छिन्न भी हो सकती है और उनके पागल होने में भी सन्देह नहीं है। उन्हें याद आया कि उन्हीं के दफ्तर का एक बाबू कुछ दिनों से पागल होकर सारे शहर में ऊधम मचा रहा है। वह जहाँ जाता है वहाँ सड़क से ईंट-पत्थर, कूड़ा-करकट उठाकर दूर फेंकता जाता है और भंगियों की तरह झाड़ू देने में उसे मजा आता है। वह जबान से ऐसी ऐसी गन्दी बातें निकालता है कि भले आदमियों को कान में उँगली देनी पड़ती है। अगर, ईश्वर न करे, उनका भी यही हाल हो गया, और ऐसा होना असम्भव नहीं है, तो क्या होगा? इस बात की कल्पना मात्र से उनके सारे शरीर में रोमांच हो गया और हृदय बेतरह धड़कने लगा। फिर दीर्घश्वास लेकर उन्होंने करवट बदली और प्रबल वेग से सब चिन्ताओं को हटाकर सोने की चेष्टा करने लगे। उनकी आँखें झपने लगीं। कुछ देर तक शायद उन्हें नींद भी आई होगी। अचानक एक आवाज से वे जाग पड़े। मालूम हुआ कि दीनदयाल आ गया है और किसी बात के लिए मंगला से झगड़ रहा है। घर के सब लोग उसके इस स्वभाव से अभ्यस्त हो गये थे, इसलिए मंगला नित्य उसकी झिड़कियाँ सुनने के लिए पहले से तैयार रहती थी।

द्वारिका बाबू सोचने लगे कि दैव-विडम्बना से उन्होंने सातिशय हर्ष से पुलकित होकर, अनेक आशायें करके, इस निष्ठुर पिशाच लड़के का नाम दीनदयाल रक्खा था। तब से वे क्या जानते थे कि उसका यह हाल रहेगा। दीनदयाल और मंगला के सो जाने के बाद भी बहुत देर तक उन्हें नींद नहीं आई। अन्त को जब आँखें लगीं तब नाना प्रकार के अस्पष्ट तथा भयावह स्वप्न उनके विकारग्रस्त मस्तिष्क में धूप-छाँह का खेल खेलने लगे। धीरे धीरे एक स्पष्ट पर विभीषिक-पूर्ण दृश्य उनकी सुप्त आँखों के सामने उग्र रूप लेकर नाचने लगा। वे देखने लगे कि दीनदयाल लात और घूँसों से मंगला को मारता जाता है और मंगला जमीन में अधमरी होकर कराह रही है। वे ज्योंही लड़के का हाथ पकड़ने जाते हैं त्योंही वह उन पर भी लातों की बौछार करने लगता है। उसके पाँव की कठिन ठोकरों को सहन करने की शक्ति उनमें न होने के कारण वे तीव्र आर्त्तनाद करने लगते हैं। स्वप्नावस्था में भी वे इतने जोर से कराहने लगे कि जागृत जगत् के लोगों के कान में भी उनकी आवाज पहुँची। मंगला अपने सोने के कमरे से उठकर दौड़ी आई और "बाबूजी, बाबूजी" कहकर पुकारने लगी। चार पाँच बार पुकारने पर द्वारिका बाबू सचेत हुए। मंगला ने त्रस्त होकर पूछा, "बाबू जी, क्या हुआ?" अत्यन्त लज्जित होकर उन्होंने कहा, "कुछ नहीं, ऐसा ही एक सपना देखा था।" पर स्वप्न की भयंकरता से अब तक उनका दिल दहल रहा था। मंगला अत्यन्त चिन्तित तथा भीत होकर वापस चली गई।

× × × ×

दूसरे दिन बुखार की हरारत लेकर द्वारिका बाबू दफ्तर गये। दफ्तर में पिछले दिनों का भी बहुत काम रक्खा पड़ा था। आज भी फाइल पर फाइलें आने लगीं। ऊपर से रोज रोज तकाजे आते थे कि फाइलों का काम खतम करके जल्दी वापस करो। ऐसी हालत में कैसे काम हो सकेगा, यह बात उनकी समझ में नहीं आई। काम की भीड़ देखकर घबराहट के कारण उन्हें कलम हाथ में थामने की हिम्मत नहीं हुई। स्तब्ध-भाव से वे जड़ होकर निश्चल बैठे रहे। कई क्लार्क उनसे कई बातें पूछने के लिए आते थे, वे अन्यमनस्क होकर सिर्फ हाँ या नहीं कह कर उनके प्रश्नों का उत्तर दे देते थे। तमाम दिन बीत गया पर उन्होंने कलम हाथ में नहीं ली। नाना दुश्चिन्ताओं के कारण बुखार भी बढ़ता जाता था। जब सब लोगों के चलने का वक्त हुआ तब वे भी उठकर चल दिये। घर पहुँचते ही चुपचाप अपनी चारपाई में जाकर पाँव पसार कर लेट गये। छोटी लड़कियाँ उनके पास प्रतिदिन की तरह आईं, पर उनका मौन-भाव तथा वेदना-क्लिष्ट मुख की जड़ता देखकर बाहर खेल-कूद के लिए चली गईं। मङ्गला ने एक गिलास में चाय लाकर दिया। वे उसे लेटे लेटे पी गये।

रात को उन्होंने कुछ नहीं खाया। बुखार ने उग्ररूप धारण कर लिया था। रात भर वेदना से छटपटाते रहे। दूसरे दिन भी बुखार नहीं उतरा और तीसरे दिन भी यही हाल रहा। इसी तरह डेढ़ हफ्ता गुजर गया। हालत दिन दिन खराब होती जाती थी। मङ्गला बहुत घबराई। घर में सभी चीजें समाप्त हो चुकी थीं। उसके पास पैसे भी नहीं थे और बाजार से खरीद लाने वाला कोई आदमी

भी नहीं था। चौका-बर्तन वह खुद अपने हाथ से करती थीं। एक नौकर के पीछे दस बारह रुपये लग जाते हैं, इस ख्याल से द्वारिका बाबू ने कोई नौकर नहीं रक्खा था। एक महरी दो रुपये मासिक पर नियुक्त थी जो सुबह शाम पानी भर कर रख जाती थी। उसे चिन्ता हुई कि बाल-बच्चों को क्या खिलाया जाय। बाबूजी के बुखार के सम्बन्ध में उसे उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी छोटी छोटी, ज्ञान-हीन लड़कियों के भूखी रहने की। मंगला हद से ज्यादा भोली थी। उसे इस बात का तनिक भी सोच नहीं हुआ कि यदि बाबूजी की ही जान बचनी मुश्किल हो गई तो फिर कैसे दिन बीतेंगे। अचानक उसे कान्ति की याद आई। उसने सोचा कि अगर वह किसी तरह यहाँ आ सके तो बाबूजी की भी टहल कर सकेगी और अबोध बालिकाओं के खाने-पीने का भी कुछ उपाय कर लेगी। उसके पास एक पोस्टकार्ड पहले से पड़ा हुआ था। उसमें उसने टूटे फूटे अक्षरों में द्वारिका बाबू की तबीयत का हाल लिख-कर और अपनी स्थिति भी यथाशक्ति समझाकर उसे कुछ दिनों के लिए इटावा चले आने के लिए लिखा।

कान्ति परम बुद्धिमती, भावुक तथा अतिशय चिन्ता-शीला थी। मैके से कब क्या कुसमाचार आ पड़े, इस बात की चिन्ता से वह प्रतिपल पीड़ित रहती थी। वर्तमान तथा वास्तविक दुःख को वह किसी न किसी तरह सह लेती थी, पर अज्ञात आशङ्का उसके कोमल, स्नेहपूर्ण हृदय को प्रतिक्षण शोषित करने में लगी रहती थी। इस कारण जब द्वारिका बाबू की तबीयत की खबर उसके पास पहुँची तब उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे इस समाचार के लिए वह पहले से ही तैयार थी। पर पहले से तैयार होने पर भी यह समाचार इतना भयावह था कि पत्र पढ़ते पढ़ते उसके हाथ-पैर काँपने लगे। वह बैठी न रह सकी और बेबस होकर लेट गई। स्थिति इतनी जटिल थी कि उसकी वास्तविकता की कल्पना भी वह भय के कारण नहीं कर सकती थी। उसके पति दफ्तर से अभी नहीं आये थे। उनका जैसा स्वभाव था उससे कान्ति को यह आशा नहीं थी कि वे स्थिति को समझकर जल्दी उसके जाने का बन्दोबस्त कर देंगे। अगर उन्होंने जाने भी दिया तो वह वहाँ पहुँचकर कैसे भाई-बहनों को दिलासा देगी, कैसे बाबू जी की टहल करेगी, जब कि वह स्वयं इतनी घबराई हुई है और ईश्वर न करे, जब बाबू जी को सचमुच कुछ हो गया तब? वह भयानक दृश्य कैसे इन आँखों से देख सकेगी? कान्ति अधिक सोच न सकी। अपनी स्वर्गीया स्नेहशीला माता को स्मरण करके सिसक सिसक कर रोने लगी। इतने में उसका चार साल का लड़का बेनी बाहर के कमरे में खेल करके वहाँ आ पहुँचा और उसकी छाती से लिपट गया। अम्मी के अचानक रोने का कारण वह कुछ भी अनुमान न कर सका। एक दिन किसी कारण से उसके बाबूजी ने अम्मी को खूब मारा था और अम्मी खूब रोई थीं। यह घटना उसे अभी याद थी। पर आज बाबूजी भी घर नहीं थे। उसने डाक वाले को भीतर आते देखा था। हो न हो, वह लाल पगड़ी वाला ही अम्मी के रोने का कारण है, यह सोचकर वह मन ही मन उसे कोसने लगा। कुछ देर तक वह चुप रहा, फिर उसने पूछा, "अम्मी, रोती क्यों है?" कान्ति आँसू पोंछ रही थी। वह कहने लगा, "बतला न किसने मारा है?" कान्ति चुप हो रही, पर वह हाथ से धक्के देकर वही प्रश्न करता जाता था। कान्ति ने भी उसे एक हलका धक्का देकर झिड़क कर कहा, "चुप रह पाजी मुझे इस वक्त दिक मत कर।" वह चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा। कान्ति सोचने लगी कि इस हठी और झगड़ाल लड़के को लेकर वहाँ जाने से इसी के मारे नाकोंदम रहेगा। वृन्दा और राधा के साथ वह झगड़ता रहेगा और इन्हीं लोगों के झगड़े से छुटकारा मिलना मुश्किल होगा। इन लोगों की बला से, कोई मरे चाहे कोई बचे।

× × × ×

कान्ति के पति श्यामशङ्कर बाबू के मामा का लड़का भैरवनाथ उन्हीं के साथ रहकर स्कूल में पढ़ता था। उसके पिता गाँव से उसके खाने-पीने, कपड़े-लत्ते, फीस-किताब का सब खर्च माहवार श्यामशंकर बाबू के पास भेज दिया करते थे। लड़का बड़ा होशियार तथा फुर्तीला था। श्यामशंकर बाबू को किसी तरह से राजी करके कान्ति भैरवनाथ को साथ में लेकर दूसरे दिन ही चल पड़ी। बेनी भी उसके साथ था। इटावा स्टेशन में उतर कर, इक्के के धक्के खाकर जब वह गन्तव्य स्थान में पहुँची तब वृन्दा और राधा ने "छोटी जीजी आ गई है, छोटी जीजी आ गई है" कहके उत्फुल्ल होकर ताली पीटकर उसका स्वागत किया। इन अबोध बालिकाओं की अज्ञानता देखकर उससे नहीं रहा गया। उसकी आँखों में से टप टप करके आँसू टपकने लगे। भीतर जाकर वह मंगला से

मिली। दोनों बहनें मिलकर खूब रोईं। वहाँ से उठकर वह बाबूजी के पास आई। द्वारिका बाबू अर्द्ध चैतन्यावस्था में पीड़ा से छटपटा कर कराह रहे थे। कान्ति ने विकल होकर पुकारा, "बाबूजी!" पर द्वारिका बाबू ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसने फिर पुकारा, "बाबूजी!" उसका गला रुँध जाता था। मंगला ने भी कहा—"बाबूजी, कान्ति आई है।" कान्ति का नाम सुनकर द्वारिका बाबू के कान खुले। उन्होंने दोनों की ओर ताक कर क्षीण स्वर में कहा, "कान्ति, कुशल तो है बेटी?" कान्ति क्या जवाब देती, विह्वल होकर ताकती रही। बाबूजी की हालत इतनी गिर गई है, यह बात न तो भोली मंगला के पत्र से और न उसकी बातों से ही उसे मालूम हुई थी। अभी तक कोई डाक्टर भी नहीं आया था। और आता भी कैसे। न तो कोई आदमी ही घर में ऐसा था जो बुला लाता और न उसकी फीस के लिए किसी के पास पैसे ही थे। कान्ति स्थिति को समझ कर अपने निज के संचित किये हुए रुपयों में से बहुत कुछ अपने साथ लेती आई थी। उसने उसी दम भैरवनाथ को डाक्टर बुलाने के लिए भेजा। द्वारिका बाबू का चेहरा बुखार से तमतमाया हुआ था और आँखें चढ़ी हुई थीं। कान्ति ने उनका हाथ ज्योंही अपने हाथ से पकड़ा तो उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे वह जल रहा है।

थोड़ी देर के बाद भैरवनाथ अकेला वापस आया। उसने कहा कि डाक्टर साहब शाम को छः बजे से पहले नहीं आ सकते। बड़े इन्तजार के बाद डाक्टर साहब ने दर्शन दिये। नब्ज देखकर, रबर के नल से छाती टेस्ट करके सब हाल पूछने के बाद डाक्टर साहब ने कहा कि हालत बड़ी खराब है पर अभी कुछ उम्मेद है। एक प्रेसक्रपशन लिख कर फीस जेब में डाल कर डाक्टर साहब यह कहकर बिदा हुए कि इस दवा से फायदा न हो तो फिर बुलाना। भैरवनाथ किसी फार्मेसी से दवा खरीद लाया। बड़ी मुश्किल से राजी करके द्वारिका बाबू को दवा पिलाई गई।

रात को कान्ति द्वारिका बाबू के कमरे के बगल वाले कमरे में लेटी रही, पर बिलकुल आँख नहीं लगी। बरसात के दिन थे। बाहर अविराम भाव से झमाझम पानी बरस रहा था। भीतर द्वारिका बाबू बीच बीच में विकारग्रस्त होकर नाना प्रकार के प्रलाप-वचन बकते जाते थे। हौल-दिली कारण कान्ति की छाती जोरों से धड़क रही थी। रात भर के जागरण के बाद सुबह को उठकर जब वह द्वारिका बाबू के कमरे में गई तब उन्हें नींद आ रही थी। कान्ति ने एक लम्बी साँस ली और किसी अज्ञात देवता के प्रति मन-ही मन हाथ जोड़कर बाहर को चली आई। वृष्टि उसी अखण्ड गति से अब तक अपना क्रम बनाये हुए थी।

दिन भर कान्ति बाबू जी के पास बैठी रही। आज तबीयत उसे कुछ अंश में अच्छी मालूम हुई, यद्यपि कोई निश्चित प्रमाण उसे नहीं मिला था। सन्ध्या को वह खिड़की से बाहर को झाँककर वर्षा की अन्ध-लीला देखने लगी। वह सोच रही थी कि संसार में प्रतिपल सुख और दुःख के चक्र के नीचे असहाय मनुष्य पिसता जाता है, पर अविरल धारापात से झमाझम बरसने वाली यह अन्ध वर्षा इस बात को अत्यन्त उदासीन भाव से ग्रहण करके नाचती चली जाती है। उसके जीवन की सभी स्मृतियाँ उसके हृदय में एक एक करके घनीभूत होने लगीं। वह कितने ही दिन वर्षाकाल के ऐसे ही दुर्दिन की कालिमा से लिप्त सन्ध्या के अन्धकार में अपने अन्तस्तल के भीतर अपने भावी जीवन के किसी अज्ञात शरत्काल के उज्ज्वल प्रभात की आशा के लिए उन्मुख रहती थी। कितने ही दिन गया-प्रसाद सेठ के बाग में जाकर बेला और चमेली के गीले फूलों को चुन चुन कर किसी अपरिचित देवता के लिए माला गूँथने में प्रवृत्त रहती थी। उन दिनों उसके हृदय में कैसी कैसी आशायें, कैसे कैसे स्वप्न अपना रङ्ग जमाते थे! अन्त को उसका विवाह हुआ एक रूखे, झक्की, क्रोधी तथा अधेड़ पति के साथ। उसे नवल वय के सभी स्वप्नों तथा उमङ्गों को तिलांजलि देकर गम्भीर भाव से गृहस्थ का कारबार निभाना पड़ा। पति-देव की उसने भरसक सेवा की, पर उन्हें कभी सन्तुष्ट नहीं कर सकी। अपने दुःखों को किसी तरह से सहन करके दिन बिता रही थी कि मा चल बसी। भाई का हाल अजीब था। बाबूजी अन्य दुःखों के फन्दे में थे ही, तिस पर ऋण-जाल में भी दृढ़ बद्ध हो गये थे। एक बहन बिधवा थी और तीन बहनें अनब्याही पड़ी थीं। इन सब दुःखों को अपर्याप्त समझकर विधाता ने अब यह चूड़ान्त दुःख देकर दिल दहलाने को ठानी है। इन्हीं बातों की चिन्ता में वह मग्न थी कि बेनी रोता-चिल्लाता हुआ उसके पास आया और कहने लगा,

"वृन्दा ने मुझे मारा है।" बड़ी मुश्किल से उसे शान्त करके वह द्वारिका बाबूजी के कमरे में चली गई।

× × × ×

रात में द्वारिका बाबू फिर विकार-ग्रस्त होकर अंड-बंड बकने लगे। रात भर यही हाल रहा। कान्ति बीच बीच में उनके पास जाती थी, फिर भीत होकर चली आती थी। बाबूजी का प्रलाप सुनकर प्रबल आशंका के कारण उसकी जबान भी जड़ हो रही थी। सुबह के वक्त द्वारिका बाबू शान्त मालूम दिये। भीतर जाकर कान्ति ने देखा तो उनका सारा शरीर बरफ बना हुआ था। वह चीख मारकर बाहर गई और भैरवनाथ को जगाकर डाक्टर बुलाने के लिए भेजा। थोड़ी देर में डाक्टर को लेकर भैरवनाथ वापस आया। कान्ति कलेजा थामे बैठी थी। डाक्टर ने आकर कई इन्जेक्शन दिये और बोतलों से उनका शरीर सेंका। बहुत देर के बाद धीरे-धीरे बदन में गरमी फिरती हुई मालूम देने लगी। जब गरमी पूरी तरह से बदन में आ गई तो द्वारिका बाबू फिर बेहोशी में छटपटाने लगे और जड़िया-क्लिष्ट कण्ठ से न मालूम क्या बकने लगे। डाक्टर के चले जाने के दो घंटे बाद तक यही हाल रहा। अचानक फिर सारा शरीर अन्यन्त शीघ्रता के साथ ठण्ढा होता चला गया। इस बार जब भैरवनाथ डाक्टर को बुला लाया तब उनका तुषार-शीतल शरीर जड़ बना हुआ था। सिर्फ छाती में धुकधुकी वर्तमान थी। डाक्टर साहब के इन्जेक्शनों से रही-सही कसर भी पूरी हो गई। मङ्गला जोर से रोने-चिल्लाने लगी। उसे देखकर दामिनी भी रोने लगी। कान्ति भय-चकित होकर "बाबूजी! बाबूजी!" पुकार कर विमूढ़ भाव से उनकी ओर ताकती रह गई। उसकी विह्वल आँखों से आँसू निकलते निकलते रुक गये। अन्त तक उसके अन्तस्तल में आशा की एक क्षीण रेखा वर्तमान थी कि बाबूजी अच्छे हो ही जायँगे। अन्त तक उनकी मृत्यु की भयावह कल्पना को वह मन से हटाकर दूर करती जाती थी। स्तम्भित होकर वह नीचे फर्श पर बैठ गई और उसने घुटनों के नीचे अपना मुँह छिपा लिया। उसे किसी प्रकार भी रुलाई नहीं आ रही थी। वह सोचने लगी कि इन अनाथ अनाश्रित बाल-बच्चों की क्या गति होगी! घर में मुट्ठी भर अन्न भी शेष नहीं था जिससे उन लोगों का घड़ी भर का भी गुजारा होता। अपने निष्ठुर तथा अर्थ-लोलुप स्वामी के स्वभाव से वह भली-भाँति परिचित थी। वह जानती थी कि इस निरुपायावस्था में भी वे इन लोगों को घड़ी भर के लिए भी अपने पास रखना पसन्द नहीं करेंगे। इस विकट समस्या का क्या समाधान हो सकता है, इस बात पर वह जितना ही विचार करती थी उतना ही उसका चित्त उद्भ्रान्त होता जाता था। कल से दीनदयाल भी लापता था। कहीं कोतवाली में न पकड़ा गया हो, यह आशंका उसके कलेजे में अपना काम अलग कर रही थी। सोचते सोचते जब वह अवसन्न हो गई तब उसने सोचना भी छोड़ दिया। कुछ काल के लिए उसका चित्त ऐसा जड़, निरुद्वेग तथा निर्विकार हो गया कि उसके पास ही बैठी हुई मंगला तथा दामिनी के रोने की आवाज भी उसके कानों में नहीं गई। बज्राहत-सी होकर पाषाण-मूर्ति की तरह वह स्तब्ध बैठी रही।

बाहर वर्षा तीन दिन की निरन्तर प्रवाह से भी नहीं उकता कर अविरल गति से धरातल को अपने खरतर बाणों से विद्ध कर रही थी।

वृन्दा ने आकर मूर्छितप्राय कान्ति को हाथ से ढकेल कर उससे यह शिकायत की कि बेनी ने उसका खिलौना तोड़ डाला है।

१९२७

❀ ❀ ❀

सुख

श्री विनोदशंकर व्यास

(१)

उत्तर-दायित्व-हीन श्यामलाल की गणना वैसे लोगों में होनी चाहिए जो बुद्धिमान् होने पर भी अपने स्वभाव की दुर्बलता के कारण पदच्युत हो जाते हैं। जब तक वे घर में रहते, अपनी स्त्री के आगे सिर न उठा सकते थे। उस सती के सामने वे अपने को अत्यन्त नीच समझते थे। परन्तु घर के बाहर होते ही वे अपने मित्रों के अनुरोध को भी नहीं टाल सकते थे। एक दिन उनकी स्त्री उनका तिरस्कार कर अपने दो वर्ष के बच्चे को लेकर अपने बाप के घर चली गई। श्यामलाल ने चुपचाप वह तिरस्कार सह लिया। सुख की लालसा ने उन्हें विपथ की ही ओर खींचा था। परन्तु उन्हें तृप्ति न हुई।

श्यामलाल मखमली बिस्तरे पर लेटे थे। लेटे लेटे उनके सम्मुख अतीत के सभी दृश्य फिर गये। वे विचार करने लगे कि इतना सुख उठाया, मोटर-फिटन पर घूम चुका, तरह तरह के थियेटर देख चुका, तरह तरह की सुन्दरियों का छवि-पान कर चुका, पर सुख फिर भी क्यों नहीं मिलता? मेरा मन चिन्तित क्यों रहता है?

वे आलमारी में रक्खी हुई शराब की खाली बोतलों और अतर की छूछी शीशियों की तरफ देखते, और कभी कमरे की सजावट को सतृष्ण नेत्रों से ताकते रह जाते। किन्तु यह सब आज उन्हें दूसरे ही रूप में दिखाई पड़ते। मानो सब कह रहे थे, मेरी ही तरह तुम्हारे सुख के दिन भी खाली हो रहे हैं।

(२)

नीलाकाश में मेघों से छिपा हुआ चन्द्रमा निकल पड़ता है, चकोर उसकी प्रतीक्षा करता है, भ्रमर फूलों का रस लेता है, पतङ्ग दीपक का आलिंगन करता है। उसी तरह मानव की तरुण अवस्था में प्रेम-तन्त्री बज उठती है। उसकी झंकृति व्याकुल हो जाती है, वह हृदय को अनमना कर देती है और मनुष्य को पागल बनाकर सैकड़ों राहों में घुमा देती है।

प्रेम-तन्त्री की झंकृति में एक नशा है। इस नशे के आवेश में मनुष्य सौन्दर्य्य और विलास का इच्छुक बन जाता है पर जब यह नशा समुद्र की लहरों की तरह पीछे हट जाता है तब उसके वास्तविक रूप का ज्ञान होता है।

वही नशा श्यामलाल को भी चढ़ा था। उस समय उनके नेत्रों के सम्मुख अन्धकार का एक पर्दा पड़ गया था। वे सब कुछ भूल गये। खुद अपने को भी भूल गये।

किन्तु अब अभिनय समाप्त होने वाला था, आखिरी पर्दा गिरने में थोड़ी ही देर थी।

देखते देखते कई मास बीत गये। श्यामलाल को उनका घर अब काटने दौड़ता था। दिन भर एकान्त में बैठ बैठे कुछ सोचा करते। उनकी तबीयत उदास रहा करती। अब उनसे कोई बात करने वाला भी न था।

उनकी सब जायदाद बिक चुकी थी, केवल कोठी रह गई थी, तिस पर भी कर्जदारों के कड़े तकाजे सुनने पड़ते थे। नौकर-चाकर चले गये, रह गया बेचारा एक बुधुआ।

(३)

चिन्ता और स्मृतियों ने श्यामलाल के हृदय में अपना घर बना लिया। उन्होंने अपना घर-बार छोड़कर निर्जन-वन-प्रान्त की राह ली।

प्रभात का समय था। सूर्य्य आकाश में ऊपर उठ रहे थे। सूर्य्य की किरणें गंगा की इठलाती हुई लहरों का आलिंगन कर रही थीं। कभी कभी शीतल-मलय-पवन का एक झोंका शरीर को स्पर्श करता हुआ चला जाता है। दूर पहाड़ों की एक कतार दिखलाई देती है। श्यामलाल उसी स्थान पर खड़े हुए प्रकृति की अपूर्व शोभा देख रहे थे।

उन्होंने अपने अन्तःपटल पर, पूर्व-काल की स्मृति का एक रेखा-चित्र देखा। वे दुखी हो गये। अपने दुख के भीतर उनकी अन्तरात्मा किसी के प्रेम को छिपाये थी।

परन्तु वह नहीं जानती थी कि किसे प्यार करती है, और अब भी कौन उसका सच्चा प्रणय-पात्र है। कभी-कभी वह पत्थरों और चट्टानों को सम्बोधन करके पूछती—तुम कौन हो? एक नीरव-संकेत में उत्तर मिलता—'हमलोग भी उसी श्रेणी के जीव हैं जिस श्रेणी के तुम।'

उस समय आकाश के सैकड़ों तारे, चन्द्रमा और सूर्य्य भी चुपचाप मानो इसी उत्तर का समर्थन कर रहे थे।

मेघों की झड़ी, गंगा की सिकता, पृथ्वी की धूल, वृक्षों की पत्तियाँ, पक्षियों की कलध्वनि और मन की विचारमालाएँ साफ साफ कहतीं थीं—जो तुम चाहते हो, हम लोग वह नहीं हैं। जाओ, दूसरी जगह अपनी चाह की वस्तु खोजो।

× × × ×

तरह तरह के सुन्दर दृश्य देखने, चिन्ता और विचार करने में एक मास बीत गया, पर सुख का पता न चला। उन्होंने सोचा था—जङ्गलों में भ्रमण करूँगा, तरह तरह के दृश्य देखूँगा और प्राकृतिक सौंदर्य्य की उपासना में अपना सारा जीवन व्यतीत करूँगा। पर एक ही मास में वे चारों तरफ से ऊब गये। एक निराश प्रेमी को जिस प्रकार संसार सूना लगता है, उसी तरह श्यामलाल को भी संसार से घृणा हो गई। संसार ने जब उन्हें ठोकर लगाई, तब ईश्वर की तरफ उनकी भक्ति उत्पन्न हुई। उनके विचारों की समाधि लग गई।

कुछ देर बाद उन्होंने फिर कर देखा—पास ही एक स्वामी गङ्गा-तट पर बैठे हुए माला फेरते हुए बार-बार श्यामलाल की तरफ देख रहे हैं। उनके नेत्रों से श्यामलाल के प्रति सहानुभति प्रकट हो रही थी।

थोड़ी देर बाद स्वामीजी ने कहा—किस चिन्ता में पड़े हो बच्चा?

"कुछ नहीं महाराज, मैं संसार-रूपी नाटक-गृह से अभिनय में उपयुक्त पात्र न होने के कारण निकाल दिया गया हूँ।"

स्वामीजी—एक दिन तो सभी निकाले जाते हैं, किन्तु जो समय रहते स्वयं निकल जाय वह सम्मानपर्वक निकलता है। भगवान् की शरण में जाओ, वही शान्ति मिलेगी।

श्यामलाल—उसी की आशा है, देखूँ, अपनी शरण में लेते हैं या नहीं? मुझे तो सन्देह है।

स्वामी—संसार के वातावरणों में सन्देह ही है, उसकी छाया से हटो, शान्ति निश्चय तुम्हें मिलेगी।

श्यामलाल—तब महात्माजी, आप ही दया कीजिए।

स्वामी—तुम स्वयं इसके लिए प्रस्तुत हो जाओ।

श्यामलाल ने स्वामीजी के चरणों में सिर रक्खा और वस्त्र उतार कर दीक्षा लेने की तैयारी में लगे। दो एक धर्म्माधिकारी भी जुट गये। उपकरण प्रस्तुत हो गया। श्यामलाल का सिर मूँड़ने में एक क्षण की देर थी।

उसी घाट पर सीढ़ियों में दबकी बैठी हुई एक स्त्री बड़ी देर से यह काण्ड देख रही थी। अब वह आकर स्वामी जी के पास खड़ी हो गई। बोली—आप यह क्या कर रहे हैं? क्या संसार भर को भिक्षुक बनाकर आप पुण्य कर रहे हैं? कायर मनुष्य जो स्वयं जिम्मेदारी उठाने में असमर्थ हैं, उनके बोझ आप दसरों से उठवाना चाहते हैं! क्या आपको मालूम है कि इनके पुत्र और स्त्री भी है, जिनकी संसार-यात्रा का इन्होंने कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया है!

स्वामीजी तेजस्विनी रमणी की इस फटकार को सुनकर सहम गये। उन्होंने श्यामलाल से पूछा—'क्यों तुम्हारे स्त्री और पुत्र भी हैं?'

श्यामलाल ने सिर उठाकर कुन्ती की ओर देखा। उसकी दृष्टि में संकोच और दीनता थी।

कुन्ती ने उसी साहस से कहा—उठिए नाथ, चलिए संसार में। क्या धन ही सब सुखों की जड़ है? विलासिता से न रहकर भी हम लोग एक दूसरे के सहारे मनुष्योचित जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

तुम सुख की खोज खूब कर चुके, अब तुम्हें मेरे साथ दुख की भी खोज करनी होगी। देखो तो, इसमें भी कुछ सुख मिलता है!—यह कह कर उसने श्यामलाल का हाथ पकड़ा और कोठी की ओर ले चली।

× × × ×

श्यामलाल अब एक साधारण गृहस्थ हैं। वैभव नहीं है, परन्तु तृप्ति है। अब उन्हें सुख की खोज नहीं करनी पड़ती।

शार्दूलकर्ण की कथा

श्री नरेन्द्रदेव, एम० ए०, एल-एल बी०

(बौद्ध-साहित्य में दिव्यावदान नाम का एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में ३८ कथाओं का संग्रह है। इन कथाओं की शिक्षा यही है कि शुभ कर्म का फल शुभ, अशुभ का अशुभ और व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है। इसलिए सबको शुभ कर्म करना चाहिए। इसी संग्रह की एक कथा का भावार्थ हम यहाँ देते हैं। सन् २६५ ई० में इस कथा का चीनी-भाषा में अनुवाद हुआ था। इसी कथा के आधार पर जर्मनी के एक लेखक (Richard Wagner) ने अपना विक्टर्स (Victors) नामक नाटक-ग्रन्थ रचा है।)

एक समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथ पिंडद के जेतवन में ठहरे हुए थे। एक दिन भगवान् के प्रिय शिष्य आनन्द श्रावस्ती नगर में भिक्षाटन के लिए गये। उनको प्यास लगी। एक कुएँ पर एक चाण्डाल-कन्या जल भर रही थी। कन्या का नाम प्रकृति था। प्रकृति से आनन्द ने पानी पीने को माँगा। प्रकृति बोली—हे भिक्षु! मैं चाण्डाल की कन्या हूँ। मैं आपको कैसे जल दे सकती हूँ? आनन्द ने कहा—बहन, मैं कुल या जाति नहीं पूँछता। मुझको जल दो। प्रकृति ने आनन्द को जल पीने को दिया। पानी पीकर आनन्द चल दिये। प्रकृति को आनन्द के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ और उसको अपना स्वामी बनाने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। उसने विचारा कि मेरी माता महाविद्याधरी अनेक मन्त्र जानती है, वह आनन्द को लाने में समर्थ हो सकती है। यह सोचकर वह जल का घड़ा लेकर घर गई और अपनी माता को सब हाल सुनाया। माता ने कहा—राजा प्रसेनजित् श्रमण गौतम का अनन्य भक्त है। यदि वह जानेगा तो चाण्डाल-कुल के लिए बड़ा अनर्थ होगा। श्रमण गौतम वीतराग सुने जाते हैं और जो वीतराग है उस पर मन्त्र का प्रभाव नहीं पड़ता। वह मन्त्रों को अभिभूत करता है। प्रकृति ने कहा—माता! यदि आनन्द मुझको नहीं मिलेगा तो मैं अपना जीवन दे दूँगी। माता बोली—तू अपना जीवन मत छोड़। मैं आनन्द को ला दूँगी। यह कहकर प्रकृति की माता ने अपने घर का आँगन गोमय से लीपा और बीच में वेदी बनाकर कुशों को आस्तीर्ण किया और आग जलाई। उसने मदार के पुष्पों से मन्त्र पढ़कर हवन किया, विद्या के प्रभाव से आनन्द का चित्त डिग गया। वह जेतवन से निकलकर प्रकृति के घर आया और वेदी के पास बैठ गया। एकान्त में बैठकर वह रो रोकर कहने लगा—भगवान्! मैं कष्ट में पड़ा हूँ। आप मेरी रक्षा करें! भगवान् ने संबुद्ध मन्त्रों से चाण्डाली के मंत्रों का प्रतिघात किया और आनन्द की रक्षा की। आनन्द चण्डाल-गृह से निकल कर जेतवन की ओर जाने लगा। प्रकृति ने आनन्द को जाते देख कर अपनी माता से कहा—हे माता! आनन्द चला जा रहा है। माता ने उत्तर दिया कि श्रमण गौतम ने मेरे मंत्रों का प्रतिघात किया होगा। जो मंत्र सर्वलोक पर अपना प्रभाव रखते हैं उन मंत्रों का भी प्रतिघात श्रमण गौतम कर सकते हैं। पर उनके मन्त्रों का प्रतिघात कोई नहीं कर सकता।

आनन्द सीधे भगवान् के पास गये और अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। भगवान् बोले—हे आनन्द! अपने कल्याण के लिए इस षडक्षरी विद्या को ग्रहण करो। सारे लोक में कोई ऐसा नहीं है जो उस व्यक्ति का अनिष्ट कर सके जिसने षडक्षरी विद्या की शरण ली है। हाँ! पूर्व-जन्म-कृत कर्म के विपाक का अन्यथा-भाव कोई नहीं कर सकता। इधर प्रकृति ने प्रातःकाल होते ही स्नान किया और नवीन वस्त्र पहनकर वह नगर के द्वार पर जा बैठी। आनन्द ने प्रातःकाल होते ही भिक्षापात्र ले नगर में प्रवेश किया। प्रकृति ने दूर से आनन्द को देखा और उसके पीछे हो ली। आनन्द प्रकृति को अपने पीछे आते देख दुखी हुआ और जेतवन लौट आया। प्रकृति भी उसके पीछे पीछे आई। आनन्द ने भगवान् से कहा—जहाँ जहाँ मैं जाता हूँ, यह कन्या मेरे पीछे पीछे जाती है। भगवान् मेरी रक्षा करें। भगवान् बोले—आनन्द, मत डरो। भगवान् ने प्रकृति से पूछा। तू आनन्द से क्या चाहती है? प्रकृति बोली—मैं आनन्द को अपना स्वामी बनाना चाहती हूँ। भगवान् ने पूछा—क्या तू ने अपने माता-पिता से आज्ञा

ली है? प्रकृति ने उत्तर दिया—हाँ। भगवान् ने कहा—तो मेरे सम्मुख अपने माता-पिता को ले आओ। प्रकृति अभिवादन कर घर आई। माता-पिता प्रकृति को लेकर भगवान् के पास आये। भगवान् ने पूछा—क्या तुम्हारी अनुमति है? माता-पिता ने कहा—हाँ। भगवान् बोले—यदि ऐसा है तो प्रकृति को यहाँ छोड़कर तुम अपने घर जाओ। माता-पिता घर लौट आये। इधर भगवान् ने प्रकृति से कहा—यदि तू आनन्द को चाहती है तो तुमको आनन्द का वेश धारण करना चाहिए। प्रकृति ने इसे स्वीकार किया। भगवान् ने प्रकृति के पूर्व-संचित पाप का परिशोध किया और जब उसकी प्रकृति शुद्ध और निर्मल हो गई तब उससे कहा—ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करो। प्रकृति ने मुण्डन कराया और काषाय वस्त्र धारण किया। भगवान् ने उसको अनेक धर्म-कथायें सुनाईं। इन कथाओं को सुनकर प्रकृति का हृदय शुद्ध हो गया। तब भगवान् ने उसको चार आर्य-सत्यों का उपदेश किया। प्रकृति ने आर्य-सत्यों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया, उसकी विचिकित्सा दूर हुई और उसको अर्थ-लाभ अधिगत हुआ। वह भगवान् के पैरों पर गिर पड़ी और बोली—भगवान्! मैंने बड़ा अपराध किया जो भिक्षु आनन्द को अपना स्वामी बनाना चाहा! भगवान् मेरा उद्धार करें। मैं अपना पाप भगवान् के समक्ष स्वीकार करती हूँ। भगवान् मेरे ऊपर अनुकम्पा करें। भगवान् बोले—हे प्रकृति! तुम कुशल-धर्मों की वृद्धि करो। भगवान् से इस प्रकार अभिनन्दित हो प्रकृति को बड़ा आनन्द हुआ और उसने विचारा कि जिस उद्देश से कुल-पुत्रियाँ केश-मुण्डन कर काषाय वस्त्र धारण करती हैं और प्रव्रज्या लेती हैं उस उद्देश की प्राप्ति में मैं सफल हूँगी।

जब श्रावस्ती के ब्राह्मणों ने सुना कि भगवान् ने एक चाण्डाल की कन्या को प्रव्रज्या दी है तब उन्होंने कहा कि चाण्डाल की कन्या किस प्रकार भिक्षुणियों की चर्या का सम्यक् रूप से पालन करेगी और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के घरों में कैसे प्रवेश करेगी? राजा प्रसेनजित् को भी यही विचार पैदा हुए। रथ पर सवार हो ब्राह्मण आदि को साथ लेकर राजा जेतवन गये। भगवान् को अभिवादन कर सब लोग एक ओर बैठ गये। भगवान् राजा के आने का कारण जान गये और प्रकृति के पूर्वजन्म की कथा भिक्षुओं को सुनाने लगे।

भगवान् बोले—हे भिक्षुओ, अतीत काल में गंगातट पर त्रिशंकु नाम का मातंगराज रहता था। उसका बड़ा परिवार था। वह चाण्डालों का राजा था। त्रिशंकु ने पूर्वजन्म में सांगोपांग वेदों तथा शास्त्रों का अध्ययन किया था। उसको इन सब का स्मरण था। उसके एक पुत्र हुआ। उसका नाम शार्दूलकर्ण था। वह बड़ा सुन्दर और रूपवान् था। राजा ने अपने पुत्र को सांगोपांग वेदों तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन कराया। जब वह विवाह के योग्य हुआ तब त्रिशंकु ने सोचा कि मेरे पुत्र के उपयुक्त शीलवती और रूपवती कन्या कहाँ मिलेगी? उस समय पुष्कर-सारी नाम के एक ब्राह्मण उत्कट नाम के द्रोणमुख (४०० ग्राम की राजनगरी को द्रोणमुख कहते हैं) का परिभोग करते थे। राजा अग्निदत्त ने यह ब्रह्मदेय उनको दान में दिया था। पुष्कर-सारी सांगोपांग वेदों के ज्ञाता और आचार्य थे। उनके प्रकृति नाम की एक कन्या थी। वह रूपवती, शीलवती और गुणवती थी। त्रिशंकु ने विचारा कि प्रकृति कुमार के सर्वथा योग्य है। वह दूसरे दिन प्रातःकाल रथ पर सवार हो उत्कट द्रोणमुख की ओर गये। उत्कट के उत्तर-पूर्व सुमनस्क नाम का एक मनोहर उद्यान था। यह सोचकर कि पुष्कर-सारी इसी उद्यान में ब्रह्मचारियों को वेद पढ़ाने के लिए आते होंगे, त्रिशंकु अपने अमात्यों के साथ वहीं उतर गया।

त्रिशंकु ने पुष्कर-सारी को ५०० शिष्यों के साथ उद्यान की ओर आते देख बढ़कर उनका स्वागत किया और कहा कि हे पुष्कर-सारी, मैं तुम्हारे पास एक विशेष कार्य से आया हूँ। पुष्कर-सारी ने कहा कि हे त्रिशंकु! तुम ब्राह्मण को 'भोः' करके आमंत्रित नहीं कर सकते। यह समुदाचार नहीं है। त्रिशंकु ने कहा—नहीं, मैं इस प्रकार ब्राह्मण को आमंत्रित कर सकता हूँ! पुष्कर-सारी ने कहा—जो मैं कर सकता हूँ वह तुम नहीं कर सकते। त्रिशंकु ने कहा—हे पुष्कर-सारी! मुझे तुमसे एक विशेष कार्य है, सुनो। मैं तुम्हारी कन्या प्रकृति को अपने पुत्र शार्दूलकर्ण के लिए चाहता हूँ। जितना शुल्क माँगोगे, मैं दूँगा। त्रिशंकु की इस बात को सुनकर पुष्कर-सारी को बड़ा क्रोध हुआ। उनकी आँखें लाल हो गईं, चेहरा क्रोध से तमतमा उठा, भौंहें टेढ़ी हो गईं, माथे पर शिकन पड़ गई। पुष्कर-सारी बोले—हे चाण्डाल! तुमको धिक्कार है, जो हीनकुल के होकर वेद-पारग ब्राह्मण का इस प्रकार अपमान करते हो। हे दुष्ट बुद्धिवाले! तुम प्रकृति को नहीं जानते और तुमको अपने ऊपर बड़ा गर्व

है। जो तुम्हारे लिए अप्रार्थनीय है उसके लिए तुम अभिलाषा करते हो। वायु को पाश से बाँधना चाहते हो। हे मूढ़! सोना कभी राख नहीं हो सकता। तुमको प्रकाश और अन्धकार में अन्तर क्यों नहीं जान पड़ता? तुम्हारा जन्म चाण्डाल के कुल में हुआ है और मैं द्विजाति हूँ। श्रेष्ठ हीन के साथ संबंध करना नहीं चाहते। श्रेष्ठ द्विजाति श्रेष्ठ के ही साथ संबंध चाहते हैं। जो विद्याचरण-सम्पन्न हैं, जिनकी जाति दोष रहित है, जो मन्त्रधर, आचार्य और पारग ब्राह्मण हैं वे अपने समान कुल से ही संबंध करते हैं। तुम पुरुषों में अधम हो; सब लोग तुम्हारी जुगुप्सा करते हैं। तुम हमारा अपमान क्यों करते हो? चाण्डाल चाण्डाल के साथ, ब्राह्मण ब्राह्मण के साथ, क्षत्रिय क्षत्रिय के साथ, वैश्य वैश्य के साथ और शूद्र शूद्र के साथ संबंध करते हैं। चाण्डाल ब्राह्मणों के साथ सम्बन्ध नहीं करते। हे अधम! तुम श्रेष्ठ के साथ कैसे सम्बन्ध करना चाहते हो? यह सुनकर त्रिशंकु बोला—जैसा भस्म और सुवर्ण में अन्तर है, वैसा अन्तर ब्राह्मण और अन्य जातियों में नहीं है। ब्राह्मण कहीं आकाश से नहीं आये हैं और न पृथ्वी को भेद करके ही उत्पन्न हुए हैं। ब्राह्मण और चाण्डाल दोनों योनि से उत्पन्न हुए हैं। ब्राह्मणों में कोई भी विशेषता नहीं है। जो कुछ पाप कर्म है वह सब जीवों के उपघात के लिए ब्राह्मणों ने प्रकाशित किया है। ब्राह्मणों का कहना है कि दारुण कर्म करके हम पुण्यात्मा हुए हैं। मांस खाने की इच्छा से ब्राह्मणों ने यह कल्पना की है कि मन्त्रों से प्रोक्षित होने पर भेड़ और बकरे स्वर्ग को जाते हैं। यदि यही स्वर्ग का मार्ग है तो फिर ब्राह्मण अपना अथवा अपने बन्धुओं का मंत्र से प्रोक्षण क्यों नहीं करते। यदि ऐसा है तो ब्राह्मणों के पुत्र, उनकी कन्या, भार्या, मित्र, बन्धु-बान्धव सभी मंत्रों से प्रोक्षित होकर सद्गति को प्राप्त कर सकते हैं। फिर ब्राह्मण पशुओं से क्यों यज्ञ करते हैं? अपना बलिदान क्यों नहीं करते? न प्रोक्षण से और न मंत्र से भेड़-बकरे स्वर्ग जाते हैं। प्रोक्षण मिथ्या है। यह स्वर्ग का मार्ग नहीं है। रौद्र चित्त के ब्राह्मणों ने यह व्यवस्था निकाली है और मांस खाने की इच्छा से पशु के प्रोक्षण की कल्पना की है। एक बात और बताता हूँ, जो ब्राह्मणों की कल्पित है। चार पातक बताये गये हैं—सोने की चोरी, मद्य-पान, गुरु की पत्नी से सम्भोग और ब्राह्मण-हत्या। सोने की चोरी नहीं करना चाहिए। अन्य पदार्थों की चोरी चोरी नहीं है। जो विप्र स्वर्ण की चोरी करता है वह अब्राह्मण हो जाता है। गुरु-दारा-गमन न करना चाहिए। अन्य-दारा-गमन किया जा सकता है। गुरु-दारा-गमन जो विप्र करता है वह अब्राह्मण हो जाता है। एक ब्राह्मण का भी बध न करे, औरों का चाहे जितना बध करे। जो ब्राह्मण का बध करता है वह अब्राह्मण हो जाता है। इन पातकों को छोड़कर ब्राह्मण के लिए कोई दूसरा पातक नहीं है। जो इनमें से एक भी पातक करता है वह ब्राह्मण-मण्डली में स्थान नहीं पाता, कोई उसको आसन नहीं देता है। उस पतित का ब्राह्मण बहिष्कार करते हैं।

व्रत करके वह पुनः शुद्ध हो सकता है और पुनः ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है। १२ वर्ष तक व्रत धारण कर निश्चय ही वह फिर ब्राह्मणत्व को पाता है। इसलिए हे पुष्कर-सारी मैं तुमसे कहता हूँ कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र संज्ञा-मात्र हैं। सबको एक समझकर अपनी कन्या का विवाह मेरे पुत्र के साथ क्यों नहीं करते?

यह सुनकर पुष्कर-सारी को फिर क्रोध हो आया और वे बोले—हे वृषल! तुम बिना विचारे ऐसा कहते हो। तुम्हारा यह कहना असत्य है कि जाति एक ही है। राजाओं को तो देश-धर्म, ग्राम-धर्म, शुल्क-धर्म और विवाह-धर्म का ज्ञान होता है। हे वृषल, चार वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण के लिए ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, शूद्रा—इस प्रकार चार भार्या का विधान है। क्षत्री के लिए तीन—क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा। वैश्य के लिए दो—वैश्या और शूद्रा और शूद्र के लिए केवल शूद्रा भार्या का विधान है। ब्राह्मण के चार पुत्र—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, क्षत्रिय के तीन पुत्र—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, वैश्य के दो पुत्र—वैश्य और शूद्र, और शूद्र के एक पुत्र शूद्र होता है।

ब्राह्मण मुख से, क्षत्रिय बाँह से, वैश्य नाभि से और शूद्र पैर से उत्पन्न हुए हैं। सब प्राणी ब्रह्म-द्वारा निर्मित हुए हैं। ब्राह्मण ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र हैं। हे वृषल, तुम चारों वर्णों से पृथक् हो। तुम्हारी चार वर्णों में गिनती नहीं है। मैं श्रेष्ठ वर्ण का हूँ। अग्र-जन्मा हूँ। तुम परमार्थ का संयोग चाहते हो। तुम शीघ्र नाश को प्राप्त होगे।

मातंगराज ने उत्तर दिया—मैं जो कहता हूँ उसे सुनो। मनुष्यों में परस्पर एकांश में भी विभिन्नता नहीं है।

यदि कोई विशेषता हो तो बताओ। वर्ण चार नहीं हैं। जिस प्रकार बालक सड़क पर खेलते हैं और मिट्टी के पिंड बना कर स्वयं उनका नाम रखते हैं, किसी को वे क्षीर, किसी को दधि, किसी को मांस और किसी को घृत कहते हैं। पर उन बालकों के कहने से मिट्टी के पिंड अन्न नहीं कहला सकते। उसी प्रकार वास्तव में चार वर्ण संज्ञा-मात्र हैं। मनुष्यों के कर्ण, शीर्ष, चक्षु, मुख, नासिका, ग्रीवा, बाहु, पार्श्व, पृष्ठ, जंघा, पाणिपाद, स्वर और वर्ण समान होते हैं। एक दूसरे में कोई अन्तर नहीं होता। इसलिए चार वर्ण कहना युक्त नहीं है। यदि कोई विशेषता हो तो बताओ। जो कुछ तुमने कहा है वह अयुक्त है। मुझसे सुनो! मैं युक्त बात कहता हूँ। हे ब्राह्मण! यदि यह सत्य है कि ब्रह्मा ने सब प्राणियों की रचना की है तो यह अयुक्त है कि चार वर्ण हैं। हे ब्राह्मण! यदि ब्राह्मणों के कथनानुसार मनुष्य-जाति पृथग्विध हो तो मेरा वचन मिथ्या हो। शीर्ष, मुख, कर्ण, नासिका, रूप, संस्थान, वर्ण, आकार, योनि और आहार इन्हीं बातों से नानात्व जाना जाता है। गऊ, अश्व, गर्दभ, उष्ट्र, मृग, पक्षी, भेड़, बकरी का प्रभेद पाद, मुख, वर्ण, संस्थान, आहार, योनि संभव इत्यादि विभिन्नता से जाना जाता है। चारों वर्णों में इस प्रकार का कोई अन्तर नहीं पाया जाता। इसलिए सब एक हैं। कोई विशेषता नहीं है। जिस प्रकार नाना प्रकार के वृक्षों में स्कन्ध, पत्र, पुष्प, फल इत्यादि के विषय में विभिन्नता पाई जाती है उस प्रकार का अन्तर मनुष्यों में नहीं पाया जाता। जिस प्रकार उदुम्बर, प्लक्ष, अश्वत्थ इत्यादि क्षीर-वृक्षों में मूल, गंध, सार, पत्र, पुष्प तथा फल में विशेषता पाई जाती है, उस प्रकार चारों वर्णों में कोई अन्तर नहीं देख पड़ता। इसलिए सब मनुष्य एक हैं।

हे ब्राह्मण! लक्षण के अनुसार परीक्षा करो। देवता, क्षत्रिय, वैश्य, यक्ष, नाग, असुर और शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकते हैं। यदि ब्राह्मण ही ब्रह्मलोक को जाय और अन्य तीन वर्ण स्वर्ग को न प्राप्त करें तब कहा जा सकता है कि वर्णों में विशेषता है। परन्तु चारों वर्ण स्व-कृत कर्म-द्वारा स्वर्ग के अधिकारी होते हैं, इसलिए चार वर्ण नहीं हैं। आर्य तप ही प्रशस्त है! द्विजों में कोई विशेषता नहीं है। यदि ब्राह्मण दो जीभ, दो मुंह, चार कान, चार सींग, अनेक पाद और दो सिर वाला हो तो वर्णों में विशेषता हो सकती है। राग जीवों के कर्म का ध्वंस करता है और ब्राह्मण अनेक अकल्याणकारी कर्म करते हैं। ब्राह्मण बार बार युद्ध, विवाद और कलह करते हैं। गो-प्रोक्षण तथा जीवों को त्रास देने वाले आथर्वण मन्त्र ब्राह्मणों ने रचे हैं। वे पाप में रत हैं; अनेक लोगों को ठगते हैं। शठता और धूर्तता उनमें है। वे दूसरों का अहित चाहते हैं। वे कैसे स्वर्ग जा सकते हैं? जो ब्राह्मण तपस्वी हैं, जिनमें व्रत, शील, दम और संयम है और जो अहिंसक हैं वही ब्रह्मपुर को जाते हैं। चारों वर्णों में अस्थि, मांस, नख, चर्म, दुःख, सुख, मूत्र पुरीष और पंचेन्द्रिय समान हैं। कोई विशेषता नहीं पाई जाती। इसलिए वर्ण चार नहीं हैं। हे ब्राह्मण! यदि किसी के चार पुत्र हों और वह उनके नाम नन्दक, जीवक, अशोक और शतायु रक्खे तो नाम में वे भिन्न हैं पर इस कारण उनकी जाति भिन्न नहीं है। हे ब्राह्मण! अच्छी तरह से परीक्षा करो। जाति-कृत विशेषता नहीं है। इसलिए चार वर्ण नहीं हैं। लोक में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र शब्दों का जो प्रचार है वह संज्ञा-मात्र है। मेरे पुत्र के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दो। जो शुल्क तुम माँगोगे मैं दूँगा।

पुष्कर-सारी ने कहा—क्या तुमने चारों वेद, अंग-विद्या, संगीत-विद्या, शकुन-विद्या, लोकायत, न्याय इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन किया है? त्रिशंकु ने उत्तर दिया—रे ब्राह्मण! मैंने इन सब शास्त्रों का अध्ययन किया है और यदि तुम अपने को मन्त्र-पारग समझते हो तो मैं तुमसे कहता हूँ कि पूर्व-काल के लोगों का यह विचार नहीं था कि चार वर्ण हैं। वे सब को एक मानते थे। जो लोग शील-क्षेम बोते थे और उसकी रक्षा करते थे उनकी क्षत्रिय संज्ञा हो गई। कुछ लोगों का यह विचार हुआ कि परिग्रह ही रोग और दुःख का कारण है; संसार छोड़कर अरण्यवास करें और तृण या पर्ण की कुटी बनाकर ध्यान करें। ऐसे लोगों ने अपना परिग्रह छोड़कर अरण्य की शरण ली और वन में पर्ण-कुटी बनाकर तत्त्व-चिन्तन में लगे। वे प्रातःकाल ग्राम में भिक्षा के निमित्त जाया करते थे। ग्रामवासियों ने सोचा कि इनकी साधना बड़ी कठिन है; ये लोग अपना घर-द्वार छोड़, संसार का तिरस्कार कर वन में निवास करते हैं। ऐसे लोगों को वे ब्राह्मण कहने लगे। ग्राम-निवासी इनका बड़ा सत्कार करते थे और इनको दान देते थे। कुछ ऐसे लोग भी थे जो ध्यान को अपने लिए असम्भव समझ ग्राम में रहकर स्वाध्याय करते थे। इनको

ग्रामवासी अध्यापक कहने लगे। हे पुष्कर-सारी! लोक में ब्राह्मणों के प्रादुर्भाव का यही कारण हुआ। दूसरे लोग जो अर्थ के लिए विविध कर्म करते थे उनकी वैश्य संज्ञा हुई। जो क्षुद्र कर्म कर जीविकोपार्जन करते थे उनकी शूद्र संज्ञा हुई। जो वाणिज्य-द्वारा जीविका कमाते थे उनकी वणिज संज्ञा हुई। जो विरक्त हो प्रव्रज्या लेते थे और क्लेशों पर विजय प्राप्त करते थे उनकी प्रव्रजित संज्ञा हुई। ब्राह्मण संज्ञा कैसे हुई इसका इतिहास अब मैं तुमको बताता हूँ। देवताओं में ब्रह्मा परम तपस्वी हैं। उन्होंने कौशिक इन्द्र को वेदों का अर्थ बताया। इन्द्र कौशिक ने अरणेमि और गौतम को, अरणेमि और गौतम ने श्वेतकेतु को, और श्वेतकेतु ने शुक को वेदों का अर्थ बताया। शुक ने वेदों के चार विभाग किये—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद में २१ विभाग हुए। यजुर्वेद ब्राह्मणों की २१ शाखायें और इनकी फिर १०१ शाखायें हो गईं। आथर्वणिकों की एक शाखा दश में विभिन्न हो गई। सामवेद में १०८० शाखायें हो गईं। इस प्रकार ब्राह्मणों में अनेक भेद हो गये। इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि संज्ञा-मात्र हैं। वर्ण चार नहीं हैं। सब मनुष्य एक हैं। इस वचन को सुनकर पुष्कर-सारी चुप हो गये। उनसे कुछ कहते-सुनते न बन पड़ा। मुख की प्रतिभा जाती रही। मुँह नीचा कर वे सोचने लगे। त्रिशंकु ने पुष्कर-सारी को चुप देख कर फिर कहा—हे ब्राह्मण! यदि तुम्हारे मन में यह खयाल हो कि यह सम्बन्ध असदृश के साथ होगा तो तुमको ऐसा न समझना चाहिए। संसार में श्रुति, शील, प्रज्ञा आदि जो गुण श्रेष्ठ समझे जाते हैं वे सब गुण मेरे पुत्र में पाये जाते हैं। यदि तुम यह सोचते हो कि जो मनुष्य वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध आदि यज्ञ करते हैं वे मरने के बाद स्वर्गलोक में देव-योनि में उत्पन्न होते हैं तो तुमको विचार करना चाहिए कि जो लोग जीव-हिंसा में प्रवृत्त होते हैं वे स्वर्ग का लाभ नहीं करते। यह स्वर्ग का मार्ग नहीं है। मैं तुमको स्वर्ग का मार्ग बतलाता हूँ। सुनो। जो यश, मित्र लाभ और स्वर्ग इन तीनों सुख की कामना करता है उसको शील की रक्षा करनी चाहिए। जो ब्राह्मण वाजपेय आदि यज्ञ करेंगे वे अनर्थ करेंगे। इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि मेरे साथ सम्बन्ध स्थापित करो। धर्म का पालन करने से चाण्डाल अनित्य और अगर्हित हो जाते हैं।

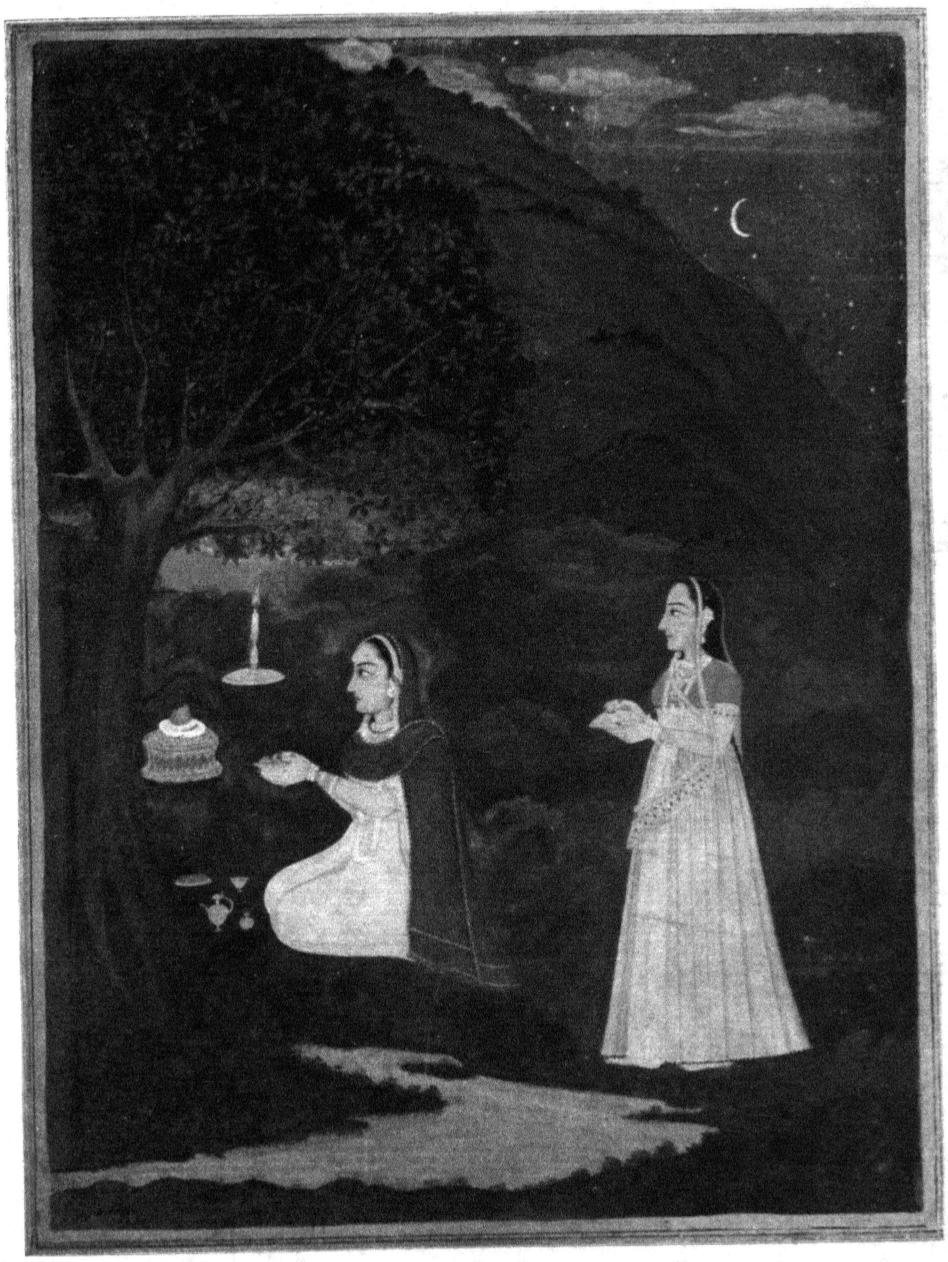
हे पुष्कर-सारी, आरम्भ में सात गोत्र थे। पीछे से हर एक के सात सात हो गये। इस प्रकार कुल ४९ गोत्र हैं। ऐसा प्राचीन ब्राह्मणों ने कहा है। इनका एकत्व समझ कर तुम मेरे बन्धु होने के योग्य हो। मनुष्य जैसा बीज बोता है वैसा ही फल पाता है। ब्राह्मण और अन्य जातियों में विशेषता नहीं है। सब शुक्र-शोणित से उत्पन्न हुए हैं। यदि यह लोक स्वयं ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ है तो ब्राह्मणी ब्राह्मण की बहिन है, क्षत्रिया क्षत्रिय की बहिन है। तब यह युक्त नहीं है कि बहिन को भार्या बनाया जाय। यह तो पशु-धर्म है। इस प्रकार चातुर्वर्ण्य पशुओं का धर्म हो जायेगा। जीव ब्रह्मा से नहीं उत्पन्न हुए हैं, परन्तु क्लेश और कर्म-जनित हैं। कर्मों के अनुसार प्राणी ऊँची और नीची गति को प्राप्त होते हैं। सब में ज्ञान की प्रवृत्ति समान रूप से होती है। निषादी काली से मुनि द्वैपायन उत्पन्न हुए। चाण्डाली कपिंजली से वशिष्ठ उत्पन्न हुए। ये ब्राह्मणी-पुत्र नहीं थे। क्षत्रिया रेणुका से परशुराम हुए। जो मनुष्य तेज और तपस्या से युक्त पंडित और विनीत हुए, जिनका लोक में ऋषिवत् आदर है वे ब्राह्मणी-पुत्र नहीं थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञा-मात्र है।

यह सुनकर पुष्कर-सारी ने त्रिशंकु का गोत्र और प्रवर पूछा और सावित्री पढ़ने को कहा। अनेक विद्याओं में त्रिशंकु की परीक्षा ली और अपने चित्त का समाधान कर त्रिशंकु से कहा—आप श्रोत्रिय हैं। आप श्रेष्ठ हैं। मैं अपनी कन्या प्रकृति का विवाह आपके पुत्र शार्दूलकर्ण से करूँगा।

आचार्य के इस निश्चय को जानकर ब्रह्मचारियों ने कहा—आप चाण्डाल के साथ संबंध न करें। जब अनेक ब्राह्मण विद्यमान हैं तब चाण्डाल के साथ संबंध करना उचित नहीं है। पुष्कर-सारी ने कहा कि जो कुछ त्रिशंकु कहते हैं वह सब सत्य है और अपनी कन्या का विवाह शार्दूलकर्ण के साथ कर दिया।

भगवान् ने यह कथा सुनाकर भिक्षुओं से कहा—मैं उस समय त्रिशंकु था। आनन्द उस समय शार्दूलकर्ण था। यह भिक्षुणी प्रकृति उस समय पुष्कर-सारी की कन्या थी। यह उसी पूर्व स्नेह और प्रेम के वश हो आनन्द का अनुगमन करती है।

हे भिक्षु! चार आर्यसत्यों की प्राप्ति के लिए उद्योग करो। अपने प्रत्येक कार्य की प्रत्यवेक्षा करो। शील की रक्षा करो। इस संवाद को सुनकर अनेक श्रावकों को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उनको धर्म का साक्षात्कार हुआ।



उमा की उपासना
(प्राचीन चित्र)

[१६२६



उमर खैयाम

(चित्रकार – लोकपाल सिंह) [१९२६

ग्रेजुएट की नौकरी

श्री बदरीनाथ भट्ट बी० ए०

(राजा चापलूसी कर्णसिंह जी और मुंशी गाजीपर्शाद कुलश्रेष्ठ)

राजा—मुंशीजी, कलट्टर साहब पीछे पड़ गये हैं कि 'प्रैवट सिकत्तरी रक्खो', जो तुम्हारी 'चिट्ठी-विट्ठयों के जवाब दे दिया करे अँगरेजी में'; क्योंकि हमारी लिखी चिट्ठियाँ समझने की योग्यता उनमें है ही कहाँ? हिन्दी कम पढ़े हैं न। इसलिए आप कहीं से एक अँगरेजी लिखने वाला सस्ता-सा बी० ए० पास तो पकड़ लाइए बहुत मिल जायँगे गलियों में जूतियाँ चटकाते।

मुंशीजी—(हाथ जोड़कर) जो हुक्म सरकार, अन्न-दाता, परवरदिगार, दामइकबालहू। (गया)

राजा—जाने कहाँ कहाँ से भड़ए, हाकिम-हुक्काम बनकर, चले आते हैं! लो भला पूछो—जब ये हिन्दी तक नहीं जानते तो हिन्दुस्तान में इनकी जरूरत? इसीलिए उस दिन नागरी-प्रचारिणी के चन्दे में मैंने एक रुपया लिख दिया है।

(एक ग्रेजुएट के साथ मुंशीजी का प्रवेश)

मुंशीजी—(हाथ जोड़कर) सिरीमान, सूरजबंशी, भानुप्रताप दिवाकर दसरथ के बरखुरदार भगवान सिरी रामचन्दरजी साहब मौसूफ साकिन सिरी अजुध्याजी, वाक़ तट सरजूजी महरानी आपको बनायें रक्खें। हुजूर वे-खुद मुख्तार हैं, (ग्रेजुएट की ओर) यानी जिनके यहाँ बहुत से 'मुख्तार' नौकर हैं—जैसे आम-मुख्तार, खास-मुख्तार—और जो खुदमुख्तारी का पेशा नहीं करते, (राजा की ओर) यह एक अदना-सा ग्रेजुएट हाजिर है आपके नाजुक पैरों की दिल्ली वाली पापोशियों में।

राजा—(मूँछों पर ताव देकर, ग्रेजुएट से) तुम कौन हो?

ग्रेजुएट—(सकपका कर) जी, मैं भी आदमी हूँ।

मुंशीजी—(बीच ही में ग्रजुएट से) हैं! हैं! 'हुजूर' कहकर बोलो 'हुजूर' कहकर। अमाँ क्या तुम्हें इतनी भी तमीज नहीं? (राजा से) अभी ये साहब नये हैं, बक़ौल शख्से की हाल ही में कालिज से छूट कर आये हैं, इसीलिए अधूरे हैं, सिरी हुजूर पुरनूर, सरबुलन्द, नालए जिगरसोज, जाविए, मुसत्ता मुस्तकी मुलखब्लैन। (ग्रेजुएट अचरज से मुंशीजी की ओर देखता है)

राजा—(ग्रेजुएट से) तुम अब तक क्या करते थे?

ग्रेजुएट—हुजूर, पढ़ता था।

राजा—अजी, लिखते थे या नहीं? मुझे तो, पढ़ने वाला नहीं, लिखने वाला बी० ए० चाहिए; क्योंकि मेरे यहाँ तो छिट्ठी-विट्ठियाँ लिखने-लिखाने का काम है, न कि पढ़ने-पढ़ाने का। समझे तुम?

ग्रेजुएट—(आश्चर्य से) हुजूर, मैं लिख भी लूँगा; पढ़ने के साथ लिखने का भी काम करना पड़ता है।

राजा—(अविश्वास की हँसी हँसता हुआ) हुँ; मुझे ही बनाने चले हैं, और भी किसी को नहीं! कहीं पढ़ने के साथ साथ भी लिखने का काम हो सकता है? हम रोज़ चिट्ठी लिखते हैं। मुंशीजी, सोचिए ज़रा—

मुंशीजी—(हाथ जोड़कर) बिलाशक हुजूर, धन्य छतरी सिरताज, बहादुर गंज—नहीं—जंग, कभी नहीं हो सकता, मैं कहता हूँ कि कभी हो ही नहीं सकता पढ़ने के साथ साथ लिखने का काम। (ग्रेजुएट से) कहीं एक म्यान में दो तलवारें आज तक रही हैं? आप भी हद करते हैं। (राजा से हाथ जोड़कर) गुस्ताखी माफ़ हो, क्योंकि छोटे मुँह बड़ी बात अर्ज़ कर रहा हूँ। (ग्रेजुएट आश्चर्य से मुंशीजी की ओर देखता है)

राजा—(ग्रेजुएट से) उधर क्या देख रहे हो, इधर देखो, (ग्रेजुएट राजा की ओर देखने लगता है) झूठ न बोलो, कहो कि पढ़ना और लिखना साथ-साथ नहीं हो सकता। यहाँ रहोगे तो शऊर सीखना पड़ेगा; और, सच बोलना, मैं झूठों और बेईमानों को कभी नौकर नहीं रखता।

मुंशीजी—(ग्रेजुएट से) अन्नदाताजी ने ठीक कहा; और न वे झूठे और बेईमान को अपने यहाँ कभी नौकरी देते हैं। इसलिए, ऐ जवान आदमी, जबकि तुम्हें अभी दुनिया के रेगिस्तानी रास्ते में, जहाँ कहीं पानी तक का ठिकाना नहीं, अपनी ज़िंदगी की मंज़िल पूरी करनी है, तुम चुस्ती, चालाकी व काफ्तेनियेपन से बाज़ आकर साफ़ साफ़ कह दो कि पढ़ना व खिलना साथ-साथ क़तई नहीं हो सकता। कहो, कहो, जल्दी कहो; नौकरी चाहते हो तो कहो; दोनों वक्त रूखी-सूखी खाकर इज्ज़त के साथ दुनिया में रहना चाहते हो तो कहो, वरना मैं अभी दूसरा ग्रेजुएट लाता हूँ। (राजा से हाथ जोड़कर) जनाबे वाला ग्रेजुएट कोई नापैद चीज़ नहीं है, सरकार, हुज़ूर, पुरिन्दर, दामइक़-बालहू, किबला, लम्बोदरगज-बदन विनायक राव भोंसले।

ग्रेजुएट—(झूँझल के साथ) क्योंकि मेरे बाप ने यह मूर्खता की कि मुझे, अम्मा के गहने बेच कर और घर गिरवी रखकर, पढ़ा-लिखा कर बी० ए० कराया, और क्योंकि मेरे बाल-बच्चे छः दिन से भूखे तड़प रहे हैं, इसलिए मैं डंके की चोट से इस बात को कहता हूँ कि पढ़ना व लिखना साथ-साथ न तो होता है, न कभी हुआ, और न कभी होगा।

राजा—अब आये कँडे पर।

मुंशीजी—(हाथ जोड़कर) जी हाँ, गरीबपरवल सलामत, हुज़ूर का बोलबाला।

राजा—(ग्रेजुएट से) तो तुम वेतन क्या लोगे?

ग्रेजुएट—हुज़ूर, चालीस से क्या कम—

राजा—(बीच ही में) मुंशीजी, किस भुखमरे को आप ले आये हैं, जो, आते देर नहीं हुई कि उलटे उस्तरे से हमें मूड़ना चाहता है! चालीस रुपये! तनिक सोचिए—चालीस! कि जिनके दूने अस्सी होते हैं, कि जिनमें अगर कहीं भूल से भी बीस रुपये और मिला दिये जायँ तो पूरे सौ हो जायँ पूरे सौ!! हे भगवान्, दुनिया मुझे ही ठगने को डोलती है! (ग्रेजुएट से) अजी इतने तो मैं अपने कोचवान और कहार को भी नहीं देता जो चालीस बरस से मेरी सेवा कर रहे हैं; फिर आप तो भला हैं किस खेत की मूली! वे लोग पाँच लेते हैं, आपको दस रुपये और भोजन—बस।

ग्रेजुएट—हुज़ूर, मेरे बाल-बच्चे क्या खायँगे?

राजा—मैंने कोई दुनिया भर के बाल-बच्चों का ठेका लिया है क्या? क्यों पैदा कर दिये घर में खाने को नहीं था तो? दस रुपये कुछ थोड़े हैं? क्यों मुंशीजी?

मुंशीजी—हुज़ूर का बेटा जिये, दस रुपये थोड़े क्यों हैं, दस रुपये तो इतने हैं कि जिसका कुछ हिसाब नहीं—नौ रुपये पौने सोलह आने से भी कहीं ज्यादा। (ग्रेजुएट से) अजी जनाब, यह तो हुज़र की ऐन नवाजिश है कि हुज़ूर ने इतना फ़रमा दिया, वरना जो जिन्स बाजार में टके सेर मारी फिरती है उसे पौन आने सेर लेता ही कौन है? आप सोच क्या रहे हैं? कहीं ऐसी बेवकूफ़ी न कीजिएगा कि लगी लगाई नौकरी पर, सिर्फ दस रुपये के पीछे, लात मार दें। (दाढ़ी पर हाथ फेरता हुआ) यह देखिए इन बालों को; ये कोई जंगल में सफेद नहीं हो गये हैं; दुनिया में तजुर्बा भी कोई चीज है। आप अभी लड़के हैं लड़के। रुपये आते जाते रहते हैं, नौकरी आती-जाती नहीं रहती।

ग्रेजुएट—(क्रोध को रोककर) बहुत अच्छा, मैं अभी आता हूँ, तब अंतिम उत्तर दूँगा।

राजा—अच्छा, अच्छा, तुम और सोच लो। हमें क्या है? हमें तो एक छोड़ बीस मिल जायँगे। (ग्रेजुएट गया) मुंशीजी, लड़का नया सिड़ी है, आप ठहरे पुराने; भला आपकी बात वह क्यों समझने लगा? और ऊपर से सौरे कहते हैं कि लाओ चन्दा स्कूल और कालिज के लिए! अरे, स्कूल कालिजों में ऐसे ही खोटे सिक्के ढालते हो या कुछ और भी?

मुंशीजी—(हाथ जोड़कर) हुज़ूर, सलामत, छत्तरी-कुल-कमल-सबेरा-कर, बल्कि दोपहर-कर, खोटे ही सिक्के ढालते हैं, और कुछ हरगिज नहीं, और कुछ हरगिज़ नहीं। हुज़ूर यह न समझें कि मैं कोई खुशामद कर रहा हूँ—खुशामद करना तो मेरी आदत में दाखिल ही नहीं—पर हुज़ूर वाला ने भी इस वक्त यह बात कह दी है कि जिसकी मिसाल लुकमान हकीम की लिखी बैताल पच्चीसी नाम की फ़लसफे की किताब में, पन्ने पर पन्ने उलटते चले जाइए तो भी हरगिज न मिलेगी। जी हाँ, जहाँपनाह, इसमें रत्ती भर भी मुबालगा नहीं, अगर हो तो जो चोर का हाल सो मेरा हाल।

राजा—अरे, जो कुछ हमारे यहाँ भोजन बच रहे सो आप खायँ, और दस रुपये महीने में घर वालों को खिलावें; और क्या किसी को लूटेगा ?

मुंशीजी—लूटेगा कैसे, हुज़ूर ? हरगिज़ न लूटने पावेगा। ऐसी क्या कोई लूट मची है ? मैं इस शख्स पर कड़ी निगाह रक्खूँगा क्योंकि इसकी आँखों में कुछ कज है। भला एक पैसे का तो इधर-उधर हो जाय, मजाल है ?

(ग्रेजुएट का प्रवेश; एक हाथ में उल्लू का पिंजड़ा है, दूसरे से गधे का कान पकड़े है)

राजा—(अचरज से) यह क्या ? यह तुम क्या ले आये ? तुम्हारा कोट कहाँ गया जो तुम पहने थे ?

मुंशीजी—और वह अँगूठी जो अभी थोड़ी देर पहले तुम्हारे हाथ में थी ?

ग्रेजुएट—हुज़ूर, मुझे हुज़ूर के यहाँ दस ही रुपये महीने पर नौकरी बजानी है यह सोचकर, अपनी आदतें बदलने के लिए, मैंने अँगूठी गिरवी रखकर, गधा, और कोट के बदले में पिंजड़े समेत उल्लू ख़रीदा है।

राजा—सो क्यों ?

ग्रेजुएट—हुज़ूर, अब तक मेरा समय कालेज में बीता जहाँ मेरे साथ पढ़ने वाले सभी विद्यार्थी आदमी थे; पढ़ाने वाले प्रोफ़ेसर भी आदमी थे; इसलिए आदमियों की ही सङ्गति रही और वैसे ही मेरी आदतें भी पड़ गईं—बोल-चाल क्या, हर एक बात की। आपके यहाँ जिन लोगों से मुझे दिन-रात काम पड़ेगा उनका अनुभव मुझे अभी तक रत्ती भर भी नहीं हो पाया है। इसलिए अपना अनुभव बढ़ाने, उनसे बातचीत करने और उनके साथ काम करने का ढङ्ग सीखने के लिए मैं इन दोनों जीवों को ले आया हूँ, क्योंकि, जिस तरह एक और एक दो होते हैं उसी तरह मुझे पूरा विश्वास है कि बिना इनकी सङ्गति किये आपके यहाँ काम करने का शऊर मुझे कदापि नहीं आवेगा। इनसे बातचीत करते करते और इनके रङ्ग-ढङ्ग देखते-भालते, आशा है कुछ दिनों में मुझे इतना शऊर आ जायगा कि आपको मुझसे कभी कोई शिकायत नहीं रहेगी।

राजा—(हैरानी और क्रोध के साथ, मुंशीजी से) मुंशीजी, मैं तनिक भी नहीं समझा कि यह क्या बक रहा है।

मुंशीजी—(हाथ जोड़कर) सरबुलन्द, महाराजाधिराज, रिआया परवल, दामइक़बालहू, आरियाबर्त साहब बहादुर, इन बरखुरदार के कहने का मतलब यह है कि अब तक मुझे कालिज में आदमियों के अलावा का तजुर्बा नहीं हो पाया है; हुज़ूर की नौकरी बजाते-बजाते अगर मैं वह भी करता रहूँ तो क्या हुज़ूर को कोई एतराज़ है ?

राजा—(ठंडे होकर) हमें क्या एतराज हो सकता है ? बस इतना याद रहे कि इन जानवरों को छूने के बाद हाथ धो लिया करे, क्योंकि हम वैष्णव हैं।

मुंशीजी—(ग्रेजुएट से) सुना भाई, हाथ धोने पड़ेंगे।

ग्रेजुएट—(मुंशीजी से) हाथ क्या, मैं पैर तक धोने को तैयार हूँ (हाथ जोड़कर, राजा से) हुज़ूर का हुक्म हो तो।

राजा—(ग्रेजुएट से) तो बस, नौकरी पक्की हुई। (मुंशी से) जल्दी शऊर सीख लेगा।

मुंशीजी—(ग्रेजुएट से) ले भाई, तेरी नौकरी पक्की हुई। (राजा से, हाथ जोड़कर) हुज़ूर ने क़तई बजा फ़रमाया कि जल्दी सीख लेगा, अभी नई उम्र है न ?

(ग्रेजुएट, राजा को साष्टाङ्ग प्रणाम करता है)

१९२८

❀ ❀ ❀

विधवा

श्री जगदीश झा 'विमल'

(१)

"बहुत दिनों बाद कृपा हुई ?"

"अवकाश ही नहीं मिलता है।"

"क्यों ? आप तो स्वतन्त्र हैं।"

"अब वैसी अवस्था नहीं है। नौकरी करते हुए भी आप मुझसे अच्छे हैं।"

"इस कथन को मैं कैसे स्वीकार करूँ। धनी-मानी पुरुष हैं। लक्ष्मी के कृपा-पात्र हैं। फिर ऐसा कैसे समझूँ ?"

"अब वह अवस्था नहीं है। मुझ पर जैसी बीती है, ईश्वर न करे और किसी पर वैसी बीते।"

"क्यों क्या हुआ ? घर में सब अच्छे तो हैं ?"

"हाँ, घर में तो सब अच्छे ही हैं। एक मैं ही राह का भिखारी हो गया हूँ। धन गया, मान-प्रतिष्ठा गई और अब सहधर्मिणी भी साथ छोड़ना चाहती है।"

"ऐं! क्या हुआ ? मेरे एक ही वर्ष के प्रवास में आपकी यह दशा ! किस संकट में पड़े ?"

"अब उसकी चर्चा व्यर्थ है। मेरा नहीं था, इसीलिए मेरे हाथ नहीं रहा।"

"आखिर क्या हुआ ?"

"आपको अभी तक मालम भी नहीं ?"

"कैसे होता ? आपने पत्र भी तो नहीं लिखा था। मैं पूरे एक वर्ष बाद आज सवेरे घर आया हूँ।"

"घर में रहने से कार्य कैसे चले, बाहर न जायँ तो पेट-पूजा कैसे हो ?"

"इस बार मैं भी आपके साथ चलूँगा।"

"हवाखोरी के लिए ?"

"नहीं, नौकरी के लिए।"

"आप हँसी करते हैं।"

"सच कहता हूँ।"

"क्यों ?"

"घरवालों ने मुझे घर से निकाल दिया है। बड़े भाई के मरते ही चचा कहने लगे—"तुम अपना रास्ता देखो। इस धन में तुम्हारा कुछ भी अधिकार नहीं है। यह मेरी निजी सम्पत्ति है। तुम्हारे पिता पहले ही अलग हो चुके थे। उनके बाद तुम्हारी अवस्था पर मुझको दया आई थी, इसीलिए अपने साथ कर लिया था। दोनों भाइयों को पढ़ा-लिखा कर मनुष्य बना दिया है, अब अपनी रोजी देखो। मैं अपने जीवन भर अलग न करता, लेकिन तुम्हारी विधवा भाभी अच्छी नहीं है। उसकी नजर लग जाती है। उसी की कृपा से मेरी एक सन्तान भी जीवित नहीं रह पाई। तुम्हारा भाई भी उसी के कारण दुनिया से चलता बना। यदि उस चुड़ैल को घर से निकाल बाहर करो तो साथ रह कर भोजन-छाजन पा सकते हो। लेकिन फिर भी इस धन पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं होगा। उनके इस कथन पर मैं अलग हो गया। घर की कोई चीज मुझको नहीं मिली।"

"देवेन्द्र बाबू का स्वभाव इतना निन्दनीय नहीं था। वे आप दोनों भाइयों को अपना ही पुत्र समझते थे। तब उनमें यह परिवर्तन कैसे हुआ, बता सकते हो ?"

"इधर थोड़े ही दिनों से हुआ और मेरी चाची के कारण हुआ।"

"आपकी चाची भी तो आप दोनों को पुत्र से कम नहीं समझती थीं।"

"बड़ी चाची का ऐसा स्नेह है, पर अब उनको पूछता है कौन, जिस दिन से उनकी सौत आई उसी दिन से वे भी बे-मौत मरने लगीं। अब उनकी सुनता है कौन ? छोटी चाची को एक सन्तान हुई और दो ही दिनों के बाद वह चलती बनी। तभी से वे मेरी विधवा भाभी पर पिल पड़ी हैं। कहती हैं—इसी राँड़ ने मेरी कोख ले ली, इसको घर से निकाल दो। चाचाजी उनके हाथ के पुतले हैं, इसीलिए मेरी यह दुर्गति हुई।"

"अनर्थ हुआ, स्त्रियाँ बुद्धिमानों की बुद्धि पर भी गाज गिरा देती हैं। धन्य है देवी तुम्हारी लीला ! खैर, अब आप क्या करना चाहते हैं ?"

"क्या करूँगा ? जीविका की खोज करूँगा।"

"धन का भाग नहीं चाहते ?"

"चाहने से क्या होगा, देता है कौन ?"

"मुकद्दमा कीजिए, सरकार दिलायगी।"

"मैं मुकद्दमा नहीं करना चाहता, वहाँ कुत्तों से नुचवाने से कोई लाभ नहीं दिखाता। उनकी ऐसी ही इच्छा है तो करें। मेरे लिए भी ईश्वर हैं, कोई न कोई युक्ति लगा ही देंगे।"

"सन्तोष से बढ़कर कोई दूसरा गुण नहीं है। ईश्वर अवश्य आपकी ओर आँख उठायेंगे।"

"अभी परीक्षा का समय है। यदि इसमें ठहर गया तो भले ही कुछ देखूंगा, अन्यथा जीवन-नौका मँझदार ही में बूड़ना चाहती है। आज कई दिनों से धर्म-पत्नी बीमार है, भाभी उससे पहले ही अस्वस्थ हो गई हैं। वैद्यराज की ओषधि से लाभ नहीं हुआ। डाक्टर की चिकित्सा कराने लगा, आज अड़तीस दिन हुए, अभी तक ज्वर-मुक्त नहीं हुई हैं। डाक्टर कहता है, मियादी ज्वर है, इसके उतरने की अवधि ७,१४,२१,२८,३५ और अन्तिम ४२ दिन है, इसके भीतर नहीं उतरता है।"

"हाँ, यह ज्वर तो ऐसा ही होता है। किस डाक्टर की चिकित्सा कराते हैं ?"

"डाक्टर नूरुलहसन की।"

"क्या कोई हिन्दू डाक्टर नहीं मिला ? ऐसे समय में आपको ऐसा नहीं करना चाहिए।"

"हिन्दू डाक्टरों की तंगदिली का हाल आपको मालूम नहीं है। वे हिन्दू का खयाल नहीं करते, पैसे के भूखे हैं, बिना फीस के आँख ही नहीं उठाते हैं। बीस दिन तक एक हिन्दू डाक्टर की ही चिकित्सा हुई, स्त्री के भूषण बन्धक रख कर उनकी फीस चुकाई, ज्योंही उधार आने का अनुनय-विनय किया, त्यों ही उन्होंने रूखा उत्तर दे दिया कि अभी तक मैंने यह सबक पढ़ा ही नहीं। किसी दूसरे हिन्दू डाक्टर ने भी प्रार्थना नहीं स्वीकार की। अन्त में विवश होकर डाक्टर नूरुलहसन के पास गया। ये मेरे भाई के सहपाठी हैं। बिना फीस लिये ही नित्य दो बार आते हैं, यहाँ तक कि दवा भी अपनी ओर से मुफ्त ही देते हैं। मैं इनके इस उपकार से दबा जा रहा हूँ, इच्छा होती है, बीच बीच में कुछ दे दिया करूँ, पर लाचारी विवश किये रहती है। हाथ में एक पैसा भी नहीं है। भोजन की भी फिक्र रहती है। आज मर कर आप तक आया। इस विपत्ति के समय कुछ सहायता कीजिए। आपसे बढ़ कर मेरा और कौन सहायक है ?"

"आपकी बीती सुनकर हृदय फट रहा है, पर कर ही क्या सकता हूँ। मेरी चिन्तनीय अवस्था किसी से छिपी नहीं है। यदि मैं पाँच दिन भी घर में बैठ रहूँ तो फिर भोजन ही बन्द। आप मेरे यहाँ आये और असमय आये। इसकी मुझे बड़ी लाज है। मेरे पास सिर्फ २५) हैं, इन्हें मैं घर के खर्च के लिए लाया था। लीजिए, आप अभी इनसे अपना काम चलाइए। मेरे योग्य जो सेवा हो निःसंकोचभाव से कहिएगा, मैं उसे करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।"

"और आपका घर-खर्च ?"

"मैं उधार लेकर अपना काम चला लूंगा। इसकी चिन्ता न करें, आप घर के रोगियों को देखें, मैं भी किसी समय अवश्य आऊँगा।"

(२)

देवेन्द्र बाबू चिन्तितचित्त अपनी धर्मपत्नी से बोले—केशव की स्त्री बहुत बीमार है। नित्य डाक्टर आता है। सुनता हूँ, उसकी अवस्था अच्छी नहीं है।

"तब आप भी क्यों नहीं नित्य जाते ? सपूत पर इतनी दया क्यों नहीं दिखाते ?"

"केशव सपूत अवश्य है। उसने मेरी जैसी सेवा की है, वैसा अपना पुत्र भी नहीं करता है।"

"हाँ, सब देख चुकी हूँ। इतनी प्रशंसा न कीजिए। उसने आपकी जैसी दुर्गति की, वैसी दुर्गति शत्रु भी न करता। यदि मेरा आना न होता तो बुढ़ौती तरस कर ही कटती। आप ही कहा करते हैं कि 'केशव के खाने के लिए भी कुछ नहीं है।' अब आप ही देखिए, आज महीना भर से डाक्टर को फीस कहाँ से चुकाता है ? मेरी बातों पर विश्वास कीजिए। उसने आपका बहुत धन हज़म किया है।"

"जाने दो। यदि ऐसा ही किया तो भी कुछ बुरा नहीं हुआ। यह धन उसी का है।"

"उसके बाप का इसमें क्या लगा है? यदि ऐसा ही करना था तो स्वर्ग की सीढ़ी पर पाँव रखते समय मेरा पाणिग्रहण क्यों किया था? आपके पीछे मेरी आवश्यकता कौन पूरी करेगा?"

"क्या तुम भी इस अवस्था में उसे देखने नहीं गईं।"

"मैं क्यों देखने चलूँ। मैं ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि वे उसको दुनिया से उठा लें। यह केशव की भाभी के विषय में कहती हूँ। हाँ, उसकी स्त्री भली है। उससे हमको उतना द्वेष नहीं है।"

"यदि उसकी मृत्यु हो जाय तो उसके लिए भी भला ही हो। कुलीन हिन्दुओं के घर में विधवा के जीने की आवश्यकता भी नहीं है।"

"अजी, उस राँड़ का परिचय अभी आपको मिला ही नहीं। वह चुड़ैल है। उसने मेरी कोख ले ली। जीवन भर के लिए दुख-कष्ट के अगाध कीचड़ में डुबो दिया।"

"यदि तुम्हारी सम्मति हो तो मैं आज उसको देख आऊँ।"

"यदि उधर पाँव उठायेंगे तो मैं घर में पेट मारकर मर जाऊँगी। आफत मचा दूँगी, मैं उसको नहीं देखना चाहती। केशव को इतना अभिमान, इस अवस्था में भी कुछ कहने नहीं आया!"

"वह सिर्फ डर से यहाँ नहीं आता है।"

जिस समय पति-पत्नी में इस प्रकार की बातें हो रही थीं उस समय एक दासी ने देवेन्द्र बाबू के आगे लाकर एक चिट्ठी रख दी। बड़ी उत्सुकता से पत्र पढ़कर देवेन्द्र बाबू ने कहा—"केशव का पत्र है। लड़का बड़ी विपत्ति में फँसा है। उसकी धर्मपत्नी रास्ते पर चढ़ गई। अब नहीं बच सकेगी। तुमको भी अन्तिम भेंट के लिए बुला भेजा है।"

"मैं नखरेबाजी नहीं जानती हूँ। आपके भाई की पुत्रवधू है, जाइए, मिलिए। मेरी कौन होती है, कि मैं उससे मिलने चलूँ।"

उसी समय केशव ने आ चाची का पाँव छुआ और कहा—चाची, मेरी ओर देखो। मुझको अपनी सन्तान के समान समझ मुझ पर दया करो, आज उसकी अवस्था बहुत बिगड़ गई है। अब आशा नहीं है कि वह फिर धरती पर पाँव रख सकेगी। आज किसी अच्छे डाक्टर को लाने का विचार था, लेकिन पास में एक फूटी कौड़ी नहीं है। और कोई डाक्टर बिना फीस लिए आवेगा नहीं। इतने दिनों में देह के गहने बिक गये। मुसलमान डाक्टर तो कुछ लेता नहीं था, इसलिए इतने दिनों तक चला।

"मुझसे कुछ नहीं हो सकेगा, तुम अपना दूसरा प्रबन्ध करो। जब तक तुम्हारे घर में वह चुड़ैल रहेगी तब तक अपना मंगल भी न समझो। सुना है, दोनों ही बीमार हैं, लेकिन उसको तो कुछ होगा नहीं, हाँ, तुम्हारी स्त्री को खाकर ही दम लेगी।"

"चाचाजी! क्या निराश ही लौटना पड़ेगा?"

लम्बी साँस छोड़ते हुए चाचा ने कहा—मेरे हाथ में कुछ नहीं रहा। मैं क्या कहूँ। मुझको तुम्हारी अवस्था पर दुःख है। पर करूँ क्या?

"तब क्या करूँ?"

"मैं क्या करने को कहूँ, मुझको तुम्हारी अवस्था पर दुःख हो रहा है। देखो, किसी से ऋण लेकर अभी कार्य सँभालो, पीछे देखा जायगा।"

चाचा के इस वचन पर केशवप्रसाद एक बार नीले नभ की ओर आँख कर आहें भर घर को वापस लौटा। घर की अवस्था बड़ी चिन्तनीय थी, स्त्री और भाभी दोनों ही सख्त बीमार थीं। जब से केशव की स्त्री बीमार पड़ी तब से भाभी कुछ अच्छी होती दीखने लगी। उस दिन केशव की स्त्री कमला की बहुत बुरी अवस्था हो रही थी, ८ घंटे से ज्ञानशून्य पड़ी थी। नाड़ी क्षीण हो गई थी। हाथ-पाँव ठण्डे पड़ रहे थे। डाक्टर को बुलाने की इच्छा थी, पर फीस का कोई उपाय न देख अधीर हो रहे थे। कई घरों का द्वार खटखटाया, पर कहीं से कुछ नहीं मिला। उस दिन गाँव के एक गरीब मित्र से उनको २५) उधार मिले थे, उसके चुकाने की अलग चिन्ता थी, मुसलमान डाक्टर नूरुलहसन बिना बुलाये दिन में एक बार और रात में भी एक बार उनके घर आता था, केशव की भाभी अलग कमरे में अकेली पड़ी रहती थी। उसके निकट कोई नहीं जाता। जब कभी केशव ही उसके निकट

पथ्यादि का प्रबन्ध कर आते या डाक्टर नूरुलहसन ही कुछ देर उसके निकट बैठे उसकी सुव्यवस्था का प्रबन्ध करते। डाक्टर साहब अपने मित्र की धर्म-पत्नी समझ उस पर विशेष दया दिखाते थे।

अन्त में उसी मुसलमान डाक्टर से केशव ने कुछ रुपये ऋण लेकर एक वयोवृद्ध अनुभवी डाक्टर को लाकर कमला को दिखलाया, पर कुछ लाभ नहीं हुआ, उसका समय पूरा हो गया था। केशव के सिर ऋण का बोझ लाद कमला संसार से विदा हो गई। केशव के भी बुरे दिनों ने उसको सताना आरम्भ कर दिया।

कुछ इष्ट-मित्रों की सहायता से ९ बजे रात के बाद कमला की लाश उठाकर केशव उसकी अन्त्येष्टि करने गंगा की ओर गया और विधिवत् कार्य सम्पन्न कर घर लौट आया।

(३)

"देखा, मेरा कहना सत्य निकला या आपका? आखिर केशव के मुख में कालिख पोत कर राँड़ उस मुसलमान डाक्टर का बँधना साफ करने चली गई न?"

"तुमसे किसने कहा कि वह मुसलमान डाक्टर के घर गई?"

"यह सब छिपाने से छिपता है? मुसलमान डाक्टर का बिना फीस उसके यहाँ दिन में दो बार आना क्या साबित करता है?"

"लोग ऐसा व्यर्थ ही अनुमान करते हैं।"

"यदि ऐसा ही है तो वह गई कहाँ? देवेन्द्रप्रसाद तो उसको अपने घर में चढ़ने ही नहीं देते। हम लोग केशव की स्त्री की लाश स्मशान ले गये, इधर सूना घर देख नूर उसको अपनी हूर बनाने को उड़ा ले गया, मैंने सुना था कि वह उसके निकट घंटों तक बैठकर न मालूम क्या क्या बातें किया करता था।"

गाँव के कई सज्जन आपस में मिलकर इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि म्लानमुख केशव उन लोगों के आगे आकर बोला—क्या आप लोग इस विपत्ति से मेरी रक्षा नहीं कर सकते?। अभी अभी मुझको मालूम हुआ कि नूर उस कुलकलंकिनी को लिए हुए थाने की ओर गया है। उसका कहना है कि वह कहती है, "मैं अपनी इच्छा से पवित्र इस्लाम-धर्म को कबूल करती हूँ।"

केशव की बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि गाँव का एक सज्जन थाने की ओर से दौड़ता हुआ आकर बोला—अभी थाने में खून हो गया। डाक्टर नूरुलहसन ने केशव की भाभी को बड़े दरोगा के सामने खड़ी करके दरोगा से पुछवाया कि तुम क्या कहना चाहती हो। दरोगा के प्रश्न के उत्तर में उसने कहा—मैं केशवप्रसाद की विधवा भाभी हूँ, उनका व्यवहार मेरे प्रति वैसा ही था, जैसा भाभी के प्रति देवर का होना चाहिए। मैं अपने भाग्य-दोष से अपनी देवरानी के साथ बीमार पड़ी, देवर इन दो रोगियों की चिकित्सा में राह का भिखारी हो गया, रुपये न रहने पर डाक्टर नूर बिना फीस पाये ही हम लोगों की चिकित्सा के लिए आने-जाने लगे सो भी एक नहीं दो दो बार। एकान्त-समय में ये मुझ पर विशेष दया दिखाने लगे। अनेक यत्न करने पर भी मेरी देवरानी आज से पाँचवें दिन पूर्व ही संध्या को स्वर्गगामिनी हो गई, उस रात में जब देवर कुछ ग्रामीणों की सहायता से पत्नी की लाश स्मशान में जलाने ले गये उसी समय अवसर पाकर इन्होंने सूने घर से कुछ सहायकों की सहायता से अज्ञातावस्था में मुझे अपने घर में उठा मँगवाया। आज तक इस पापी ने मुझको लोभ-प्रलोभ देकर धर्मच्युत करने की चेष्टा की। अपने लिए मुक्ति का कोई उपाय न देखकर मैंने इसका कहना इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि चलो, थाने में चलकर मैं लिखाये देती हूँ कि मैं राजी-खुशी से इस्लाम-धर्म कबूल करती हूँ। इस पर सहमत होकर इसने आप तक मुझे पहुँचाया। इस पापिष्ठ ने मेरे पवित्र शरीर को स्पर्श कर मुझे कलंकित किया, अतएव आप जैसा उचित समझें करें। इतना कहने के बाद ही उसने कमर के कपड़ों में छिपी कटार निकाल कर अपने कलेजे में घुसेड़ ली और तड़फड़ा कर क्षण भर में मर गई। नूर कैद कर लिया गया।

लोगों ने विधवा की प्रशंसा करते हुए थाने से उसकी लाश लाकर केशव द्वारा प्रेत-क्रिया करवाई।

अनिश्चय

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

(१)

इस बार उसके मुख पर उल्लास न था, मलिनता का मौन रुदन था। बीस-पचीस कुटुम्बी जनों के समक्ष जब में उसके घर पहुँचा, देखता हूँ कि वह अपने मुख पर दोनों हाथ रक्खे हुए आकाश की ओर देख रही है। मैंने जब उसका चरण-स्पर्श किया तब वह एकाएक चौंक पड़ी। बोली—अरे, मिसिरजी आ गये ! आशीर्वाद स्वरूप उसने कहा तो कुछ नहीं, लेकिन जान पड़ता है, मन में कुछ कहा था। उस समय वह घर के आँगन में एक ओर बैठी हुई थी। अब उठ कर अपने कमरे में चली आई।

उसका नाम है सरिता। जैसे सरिता की गति अबाध रहती है, वैसे ही मेरी इस सरिता की गतिविधि भी स्वच्छन्द रही है। अपने माता-पिता की एकलौती सन्तान होने के कारण उसने अभी तक जो चाहा, वही किया है। जैसे सरिता का नीर निर्मल रहता है, वैसे ही उसका स्नेह-सलिल सदा शुभ्र किंवा उज्ज्वल रहा है। सरिता जैसे अहर्निश एक-न-एक रागिनी छेड़े ही रहती है, वैसे ही इसके मनो-मंदिर में एक-न-एक आलाप प्रतिध्वनित ही रहता है। निदान, मेरी यह सरिता नाम-मात्र को ही सरिता हो, सो बात नहीं है। वास्तव में वह सरिता ही-सी है।

इस घर में, जहाँ सरिता की ससुराल है, मेरा एक नया नाता आ मिला है। मेरे एक आत्मीय का यहीं विवाह हो गया है। वे जब कभी निमंत्रण में यहाँ आते हैं तब मुझे भी साथ ले आते हैं,। उनके ब्याह में मैं भी बारात में गया था। तब से इस घर से मेरा सम्बन्ध उत्तरोत्तर निकटतम होता गया। एक-आध बार मैं नहीं गया, सरिता को बहुत बुरा मालूम हुआ। उसने उलहने से भरा हुआ ऐसा पत्र भेजा जिसे पढ़कर मैं तिलमिला गया। अब विवश होकर मुझे आना ही पड़ता है। यहाँ के नाते से सरिता मेरी भाभी होती है।

सरिता के साथ यदि मेरा यही नाता होता तब तो कोई बात न थी। किन्तु उसके साथ ही मेरे जीवन के इतिहास के अनेक पृष्ठ मुद्रित हुए हैं। आज जब जी न माना तब अपने उसी अतीत इतिहास के ही पृष्ठ उलटने लगा।

एक दिन ननिहाल के पड़ोस के एक घर में मेरा निमन्त्रण था। आमन्त्रित करने वाली को मैं मामी कहा करता था। मा से सुना था, बचपन में इस मामी का मुझ पर बड़ा स्नेह रहा है। ननिहाल के उस मुहल्ले के शिशुओं में सबसे अधिक स्वस्थ होने के कारण, साधारण रूप से सभी मुझसे स्नेह रखते थे; पर उन सबसे अधिक प्यार मुझे इस मामी का ही प्राप्त था। ये मुझे अपने साथ खाना खिलाती थीं, झूला झुलाती थीं और मेरे इच्छानुसार खिलौने तथा मिठाइयाँ मँगाती रहती थीं। इस कारण मैं अपने घर न रहकर अधिकतर इन्हीं के घर में रहता था। बचपन के बाद शिक्षा-मंदिरों में घूमते-घामते जब मैं युवक होकर लौटा और अपने मामा के यहाँ गया तब मुझे उक्त निमन्त्रण मिला था। उस निमन्त्रण वाले दिन की याद अभी तक ताजी है। दस-बारह वर्ष के बाद वैसा प्रिय भोजन पाया था। मैं भोजन करता जाता था, मामी मेरे ऊपर पंखा झलती जाती थीं। बीच-बीच में वे अपनी पुरानी बातें भी कहती जाती थीं। खूब अच्छी तरह याद है, उन्होंने कहा था—आज दस-बारह वर्ष के बाद तुम मेरे घर आये हो। तुम्हें भला क्या याद होगा कि मेरे इसी घर के इसी आँगन में तुम कितने वर्ष खेले हो ! तुम्हें भला क्या सुध होगी कि मैंने ही अपने हाथ से तुम्हें कितने दिनों तक दूध-भात खिलाया है। यहाँ तक कि अनेक बार तो तुम मेरे ही साथ सो भी जाते रहे हो, और फिर उस रात चेष्टा करने पर भी अपने नाना के घर नहीं गये। उस समय मैंने मामी से इन बातों के उत्तर में क्या कहा था, सो बिलकुल याद नहीं है। बस यही, इतना ही याद रह गया है।

हाँ, तो उस दिन खूब अच्छी तरह से छककर भोजन कर लेने के अनन्तर मामी ने कहा—"सरिता, भैया को

पान तो लगा दे। तुझे क्या याद होगी कि रमेश तुझे कैसे प्यार से खिलाया करता था। तू तो तब निरी बच्ची ही थी।" जिस नन्हीं-सी बच्ची को मैं इस घर में खिलाया करता था वही मेरी यह सरिता है। भोजन के बाद जब उस दिन वह पान लगा कर ले आई तब एक बार मैंने उसे देखा। ताजे फूलों का गजरा जैसे मदमाती सुगन्ध से निकटवर्ती व्यक्ति की इच्छा-शक्ति को अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही सरिता को देख कर मेरे मन का चोर मझे आशा-वाहन पर बिठा कर उड़ा ले चला।

मामी ने कहा—सरिता अब सयानी हो चली है। उसका ब्याह जल्दी ही करना है।

सरिता मुझे पान देकर चली गई और मामी मुझसे बातें करने लगीं। कहाँ-कहाँ का वर ढूँढ़ा गया है; कौन कैसा है, किसके यहाँ कितने में तय हो जायगा, यही सब बतलाती रहीं। एक-एक बात को बड़े ध्यान से सुनता गया। अन्त में इन्होंने कहा—मैं तो कुछ और ही चाहती थी, लेकिन मेरे मन की बात नहीं हो सकी। लोगों ने कहा—वे कुलीन और बड़े आदमी हैं। तुम्हारे यहाँ वे ब्याह नहीं करेंगे।

मामी के मुँह पर मेरी दृष्टि थी। उनकी मुख-मुद्रा से ऐसा मालूम हुआ, जैसे उनका स्वप्न-राज्य भङ्ग हो गया है—उन्होंने जो सोच रक्खा था, उस पर वज्रपात हो गया है।

उस समय मैं क्या सोचता था, यह कैसे बताऊँ! इतना ही कह सकता हूँ कि मामी ने अपना यह मन्तव्य प्रकट ही न किया होता, यही अच्छा था।

(२)

उस बार मैं अपने उन मामा के यहाँ एक मास रहा था। घर में कह आया था कि एक सप्ताह में आ जाऊँगा, परन्तु वह सप्ताह तो इतनी जल्दी उड़ गया जितनी जल्दी नूरजहाँ के हाथ का बाज़ भी न उड़ा होगा। दिन भर मित्रों में अठिलाया करता। उस गाँव के निकट एक छोटी सी सरिता बहती थी। वह बड़ी मनचली थी। कभी-कभी जब एक आध दिन पानी खूब बरस जाता तब उसका वक्ष-प्रान्त बहुत विशाल हो जाता था। एक कूल से दूसरे कूल का क्षेत्र दसगुना बढ़ जाता था। एक ही घंटे में उसका यह रूप हो जाता, फिर २–३ दिन बाद कम होते होते पूर्व्ववत् हो पाता था। वह अपनी इस अदा पर इतराया करती। वर्षा के दिनों में प्रायः ऐसे अवसर भी आते थे जब उसको इस रूप में देखकर अनेक पथिक निराश होकर लौट जाते और दूसरे मार्ग से जाकर भी अपने अभीष्ट स्थान पर अभीष्ट समय पर नहीं पहुँच पाते थे।

उस समय जाड़े के दिन थे। सरिता के सुविस्तृत कछार में गेहूँ और मटर के खेत डटे खड़े थे। उन हरे-भरे खेतों में सरसों और अलसी के फूलों की पंक्तियाँ देखते ही बन पड़ती थीं। वे कहीं ऊपर उठतीं, कहीं नीचे जातीं। यहाँ तक कि थोड़े ही अन्तर से आने-जाने वाले पथिक एक-दूसरे को देख भी न पाते थे। अपने मित्रों के साथ सरिता के इस कछार की बहार देखने को मैं प्रायः जाता था। घंटों वहीं बैठे-बैठे बातें करते रहते। लौट कर जब घर आते, देखते सरिता बैठी मामी और बहिन से बातें कर रही है। एक बार मेरी ओर देख कर वह फिर उन बड़ी-बड़ी कजरारी आँखों को शील और लज्जा के बीच में बैठाकर नतमुख हो जाती।

× × × ×

कई दिनों के बाद अपनी पुस्तकों पर मेरी दृष्टि पड़ गई। एक उपन्यास मैं उठाकर पढ़ने लगा। कुछ ही पन्ने उलटने पर देखता क्या हूँ कि उसमें यत्र-तत्र पेंसिल के निशान बने हुए हैं। मैंने मामी से पूछा—यह पुस्तक क्या कोई पढ़ने को ले गया था?

मामी ने कहा—हाँ, एक पुस्तक सरिता ले गई थी। उसी दिन उसने पढ़ कर लौटा दी थी। तू उस दिन, जान पड़ता है, कहीं गया था। मैंने उसे ले जाने दिया था। क्या कहीं धब्बे पड़ गये हैं या कोई पन्ना फट गया है?

मैंने कहा—नहीं, मैंने यों ही पूछ भर लिया, मामी से इतना कह कर मैं एकान्त में चुपचाप बैठ गया। इस समय मेरे हृदय की कैसी अवस्था थी, यह बतलाना बड़ा कठिन है। इस तरह की बातें, जान पड़ता है, कहने की नहीं होतीं। वे तो हृदय के किसी एक कोने से ही उठती हैं और वहीं रह जाती हैं। कोई उन्हें छू नहीं पाता, कोई हृदय से उठाकर उन्हें अन्यत्र ले भी नहीं जा सकता। इसलिए कैसे कहूँ, उस समय मैं क्या-क्या सोचता था। कैसे बताऊँ उस दिन की दशा। परन्तु जब यह डायरी मेरी

सहचरी हो रही है तब इसके हृदय-देश में अपनी इस लोह-लेखनी से मुझे सभी कुछ लिख ही देना है। फिर वह चाहे जैसा हो! हाँ, उस समय एकान्त में बैठे-बैठे मैं सोचने लगा—यदि उसने इस पुस्तक में कोई दो अक्षर ही और लिख दिये होते! आह! तब वे अक्षर मेरे लिए कितनी बड़ी चीज होते। एक-एक पन्ना उलट गया—कहीं एक भी अक्षर लिखा हुआ नहीं मिला। जो कुछ मिला वह केवल वही था जो मैं ऊपर बता चुका हूँ। अर्थात् कहीं कहीं पर खड़ी लकीर खींच दी गई थी और कहीं कोई कोई पंक्ति अंडर लाइन कर दी गई थी। उस समय इस बात ने मुझे बचा लिया। मैं सोचने लगा—यदि उस में इतना भी न होता।

(३)

उपन्यास की भूमिका के जिन जिन अंशों को उसने इंगितों से चिह्नित किया था, अब मैं उन्हीं अंशों को ध्यान से देखने लगा।

एक स्थान पर एक पैराग्राफ इस प्रकार मुद्रित था—

"परन्तु हम जिसकी ओर कभी आँख उठाकर देखते भी नहीं, जिसे देख सकते भी नहीं, केवल सामाजिक शृंखला के कारण ही नहीं, साथ ही स्वभाव किंवा वय-जनित शील के कारण भी नहीं, सम्भव है, हम उसको चाहते हों। क्योंकि उस दशा में हमारे दिल में एक चोर घुसा हुआ होता है। वर्षों हम उससे खुलकर बोल नहीं पाते, आँख भर देख नहीं पाते, जी भर उससे हँस नहीं पाते—और यहाँ तक कि अवस्था-विशेष में उसके दर्शन भी नहीं कर पाते। वही—हाँ वही, एक दिन हमें मिल जाता है। प्रेम के तागे के दोनों छोर एक दूसरे के क्रोड़ से लिपटे रहते हैं और दोनों हृदयों में तारबर्की जारी रहती है।" मैंने देखा, इन शब्दों के सामने सरिता के हाथ की कापीइंग पेंसिल से एक खड़ी लकीर बनी हुई है।

आगे चलकर एक जगह छपा है—

"हम जिसे अभी बिलकुल नहीं चाहते हैं, यही बात उस सुदूर भविष्य की प्रथम सीढ़ी है जिसमें पहुँच कर कभी हम उसे चाहेंगे और इतना अधिक चाहेंगे कि केवल उसी को चाहेंगे। बात यह है कि हम जिससे घृणा कर सकते हैं उससे प्रेम भी कर सकते हैं अथवा यों समझिए कि जिससे प्रेम करने का हमें अधिकार है उससे घृणा करने का अधिकार तो हमें उससे भी पहले से है। तात्पर्य्य यह है कि जिससे घृणा की जा रही है, उससे या तो कभी प्रेम किया जा चुका है या अब किया जाने वाला है।"

मैंने देखा, सरिता के हाथ की पेंसिल ने इन शब्दों के नीचे रेखा खींच दी है।

× × × ×

अब मैंने वह पुस्तक ज्यों की त्यों बन्द करके रख दी। दोनों स्थानों में एक एक कागज लगा दिया। एक दो नहीं, अनेक वर्ष आये और चले गये। वसन्त आया और कोने-कोने को झाँक कर चला गया। वर्षा की रिमझिमवाली रातें अठिलाती हुई आईं और मुसकराती हुई चली भी गईं; पर यह पुस्तक ज्यों की त्यों रक्खी रही। क्या जाने सरिता ने और किन किन स्थलों पर रेखायें खींची हों। ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे ये रेखायें मेरे हृत्पिण्ड को मान कर सरिता ने पेंसिल से ऐसी गहरी रेखायें खींच दी हैं जो अमिट हैं, असीम हैं। कमी केवल यह है, मेरे हृत्पिण्ड की स्लेट पर पहले से कुछ लिखा हुआ नहीं है। इसीलिए यही सोचता हूँ कि ये बेचारी रेखायें अकेली पड़ गई हैं। कहीं नरम हवा के झोंके उन्हें मिटा न दें। जान पड़ता है, इसी डर से मेरी वह पुस्तक ज्यों की त्यों रक्खी रही है।

इस घटना के पश्चात् फिर मैं मामा के यहाँ से चला आया। तब से फिर कभी वहाँ नहीं गया। जाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। इसके कुछ ही दिनों के बाद एक दूसरे नाते से सरिता मेरी भाभी हो गई। इस रूप में भी उससे कभी बातें नहीं हुईं। भाई साहब के साथ जब कभी जाता था तब सरिता देखने भर को मिल जाती थी। इतना ही बहुत था। भला बातों में रक्खा ही क्या है? और एक बात यह भी तो है कि बातें क्या मुख से ही होती हैं? क्या मुँह के ऊपर की रेखायें, आँखों की पुतलियाँ, आँसुओं के मोती, अधरों का कम्पन कभी कुछ कहता ही नहीं है?

(४)

लेकिन ये सब बातें अब बहुत पुरानी पड़ गई हैं। सरिता अब बड़े सुख से रहती है। उसके कई छोटे-छोटे बच्चे हैं। वे उसके आँगन को निरन्तर अपनी किलकारियों

से गुंजायमान रखते हैं। इस संसार का जो कुछ सुख है सो सब उसके आँगन में खेलता है, मचलता है, रीझता है, खीझता है। ऐसा जान पड़ा जैसे मेरे हृत्पिंड पर पेंसिल-रचित वे रेखायें अब ऐसी धुँधली पड़ गई हैं कि बिलकुल पढ़ी नहीं जातीं। इसी की मीमांसा करने को उस दिन जी कुछ उतावला हो उठा।

उस दिन एक बारात से निपट कर जब मैं इलाहाबाद चलने लगा तब वह लखनऊ जाने लगी। ताँगे पर ही मैं उससे बिदा होने लगा। बड़ी मुश्किल से मैं उसके चरण खोज सका। उनकी धूल मैं अपने मस्तक से लगा ही रहा था कि देखता क्या हूँ, एक गरम गरम अश्रु-बिन्दु मेरे हाथ पर टप से चू पड़ा। इसके साथ ही सरिता के मुख से यह भी सुनाई पड़ा—कभी-कभी चिट्ठी तो भेजा करो रमेश।

मैं इसका कुछ उत्तर न दे सका। उधर सरिता के ताँगे वाले ने अपने घोड़े की पीठ पर इतने जोर से चाबुक मार दिया कि मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, मानो वह मेरी ही पीठ पर पड़ा है। इसके बाद मैंने देखा, उसका ताँगा हवा से बातें कर रहा था।

मैंने सोचा था, मेरी स्लेट पर जो रेखायें कभी खींची गई थीं वे कुछ धुँधली पड़ गई हैं, पर अब मेरे हृदय के भीतर का चोर कह उठा—नहीं ऐसी बात नहीं है।

आज फिर वही पुस्तक लेकर बैठा था। सोचा था, आगे भी देखूँगा, सरिता ने किन किन स्थलों को अंडर लाइन किया है। पर ये पिछली बातें जो एकाएक मुझे मथकर छोड़ गईं, इसी से अब यह पुस्तक आगे फिर कभी उठाऊँगा भी या नहीं, जब यही नहीं निश्चय कर पाता हूँ तब और क्या कह सकता हूँ।

१६२९

❀ ❀ ❀

रज्जू का सौदा

श्री पृथ्वीनाथ शर्मा

(१)

रज्जू ने बच्चे को गोद में उठा लिया। झोपड़ी से बाहर निकल बाजार की ओर चल पड़ा। बच्चे के अनिश्चित परन्तु आशामय भविष्य के लिए आज वह ममता-जैसी मधुर तथा बलवती वस्तु को लात मारने जा रहा था। परन्तु वह बेबस था। उसके मुँह में अन्न का दाना गये आज पाँचवाँ दिन था और बच्चे के मुँह में दूध की बूँद गये दूसरा दिन।

कुछ ही क्षणों में वह बाजार में जा पहुँचा। वहाँ विशेष चहल-पहल न थी। फटे तथा मैले कपड़े पहने हुए वह बाजार के गर्द-गुबार का अंग बन गया। किसी ने उसकी ओर देखा तक नहीं। उसे एक दूकान बन्द दिखाई दी। तख्ता काफी चौड़ा था। उसने अपने चारों ओर देखा। बच्चे को वहाँ लिटाकर चुपके से आगे चल दिया।

बालक कुछ देर मौन पड़ा रहा। आखिर उसने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें इधर-उधर दौड़ाईं। शायद स्थिति भाँप गया। जोर-जोर से चिल्लाने लगा। लोगों का समूह इकट्ठा हो गया।

"किसका बच्चा है? कितना सुन्दर है।" सब एक दूसरे से कह रहे थे। परन्तु उसे अपनाने वाला वहाँ कोई न था।

एकाएक भीड़ के पास एक नीली मोटर आकर ठहर गई। मोटर से सिर निकाल कर एक व्यक्ति ने पास वाले आदमी से पूछा—'क्योंजी, क्या मामला है?'

उसने अदब से जवाब दिया—'जनाब एक लावारिस बच्चा पड़ा है। कोई एक साल का होगा।'

मोटर-स्वामी को कुतूहल-सा हुआ। मोटर से उतरकर वह बच्चे की ओर देखने लगा। बच्चा बहुत सुन्दर था। वह उस पर मुग्ध-सा हो गया। दो मिनट तक एक-टक उसकी ओर देखते रहकर वह आगे बढ़ा और उसे गोद

में ले लिया। उसने कहा—'मैं इसके माँ-बाप का पता लगाने की कोशिश करूँगा।'

किसी ने कोई आपत्ति न की। शहर के नामी वकील तथा म्युनिसिपल-कमिश्नर बाबू राधानाथ को कौन नहीं जानता था।

वे बच्चे को लिये मोटर में जा बैठे। मोटर हवा हो गई।

(२)

बाबू राधानाथ ने दो-चार दिन बालक के माता-पिता का पता लगाने की कोशिश की, परन्तु असफल रहे। उनके अपने कोई संतान न थी, इसलिए बच्चे को स्वयं पाल लेने का निश्चय किया।

एक विलायती तथा एक हिन्दुस्तानी दायी और दो नौकरों की देख-रेख में बालक का पालन-पोषण होने लगा। शाम-सबेरे गाड़ी में बिठाकर बच्चे को हवा खिलाई जाने लगी। दोपहर के आमोद के लिए बँगले के साथ ही सटे हुए बाग में उसके लिए दो-तीन प्रकार के झूले डलवा दिये गये थे।

रज्जू यह सब कुछ देखता और प्रसन्न होता था। यही वह चाहता था। परन्तु कभी-कभी उसके हृदय में प्रेम की अग्नि धधक उठती थी। बच्चे को छाती से चिपटाने के लिए मन बे-चैन हो जाता था। जी में आता था कि राधानाथ से साफ-साफ कह दें और अपना लाल वापस माँग लें। एक-दो बार उसकी आतुरता उसे खींच-कर बाबू राधानाथ के कमरे तक ले भी गई, परन्तु अन्दर जाने का साहस न हुआ। लौट आता और सारा उत्साह भंग हो जाता।

इस भाँति बाबू राधानाथ के बँगले के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहकर रज्जू ने छः वर्ष बिता दिये।

(३)

एक दिन जब रज्जू वहाँ पहुँचा तब कोठी के द्वार बन्द पाये। चकित हो गया। इधर-उधर देखा। दरवाजे के बाहर एक चौकीदार हाथ में लट्ठ लिये बैठा था। रज्जू उसके पास जा पहुँचा। चौकीदार ने नवागन्तुक की ओर बे-परवाही से देखा। जेब से डिबिया निकाल चूना और तमाखू मलने लगा। चौकीदार को इस भाँति अकड़ा देखकर रज्जू ने उसे फुसलाना चाहा। उसने कहा—'जय रामजी की भाई साहब।'

चौकीदार पिघल गया। नर्मी से जवाब दिया—'जय रामजी की।'

"आज द्वार क्यों बन्द है भैया?" रज्जू ने प्रश्न किया।

तमाखू और चूना मुँह में रखते हुए चौकीदार ने कहा—'अरे क्या पूछते हो? अमीरों के चोंचले हैं। सात वर्ष का लड़का और उसे पढ़ाने के लिए विलायत ले गये हैं। देश में मानों स्कूलों का अकाल पड़ गया है।'

रज्जू को मानों पैनी कटार-सी चुभ गई। बीच में ही बोल उठा—'विलायत! उसे विलायत ले गये।' चौकीदार अपनी उमङ्ग में था। रज्जू की हैरानी की ओर उसका ध्यान नहीं गया। इतने में रज्जू सँभल गया। चौकीदार अभी तक अपनी ही हाँके जा रहा था।

रज्जू ने कहा—'अच्छा कौन-कौन गया है?'

"बाबू, बीबी और रत्ना। बाबू और बीबी तो शीघ्र ही लौट आयेंगे। रत्न वहीं पढ़ेगा।"

कुछ ठहर कर उसने फिर कहा—'भैया अपने पेट का बच्चा होता तो उसे ऐसे फेंकने न जाते।'

रज्जू ने कुछ कहना चाहा, परन्तु चौकीदार के अन्तिम वाक्य ने उसके हृदय में उथल-पुथल मचा दी। उसका गला भर आया और शब्द बाहर न निकल सके। दो-एक क्षण एकटक चौकीदार की ओर देखता रहा। फिर आह भरकर लौट पड़ा।

रज्जू घर पहुँचा। बिना दिया जलाये ही गुदड़ी में घुस गया। टूटी हुई छत से छनकर चन्द्रमा की एक-दो किरणें उस अँधेरी कुटिया में प्रकाश करने का विफल यत्न कर रही थीं। रज्जू ने विचित्र मुस्कराहट से उनकी ओर देखा। और फिर व्यग्र हो उधर से मुँह मोड़ गुदड़ी में छिपा लिया। जिसका मन अन्धकारमय हो उसे अन्धकार ही प्रिय होता है। उसे एक छोटी-सी किरण भी बेचैन कर सकती है।

रज्जू की आँखों के सामने उसके दो लड़के मर गये। एक लड़की मरी। चार वर्ष तक दुःख तथा यंत्रणायें सह चुकने के बाद पत्नी की भी इह-लीला समाप्त हो गई।

उसने भी असीम दुःख सहे। इधर कई दिनों से एक बेर भी पेट भर कर न खाया था। परन्तु जो पीड़ा उसे अब हो रही थी उसका अनुभव उसने आज तक कभी नहीं किया था। एक वस्तु उसकी होती हुई भी उसकी नहीं थी। उसकी यह स्थिति बिलकुल नई तथा अत्यन्त करुणा-जनक थी।

रज्जू सुबह से प्रतीक्षा में बैठा था। उसका पुत्र आज चौदह वर्ष के बाद विलायत से लौटा था। परन्तु उसका कितना दुर्भाग्य कि जब तक लड़का शाम की सैर को न निकले, रज्जू को उसके दर्शन न हो सकते थे। उसकी आँखें एकटक जमी थीं, हृदय धड़क रहा था, कल्पना इधर उधर उसे उड़ा रही थी। उस दिन आकाश का रंग रज्जू को अत्यन्त प्रिय मालूम हो रहा था।

सहसा धूल का एक बवंडर-सा उड़ाता हुआ एक मोटर रज्जू के निकट आकर ठहर गया। रज्जू घबरा कर उठ खड़ा हुआ, देखा, शोफर के सिवा मोटर में कोई न था। पास चला गया। डरते-डरते शोफर से पूछा—"भैया, मोटर किसके लिए आया है?"

शोफर रज्जू को जानता था। जब से वह नौकर हुआ था, रज्जू को कोठी के इर्द-गिर्द कहीं न कहीं उसे बैठे हुए अनेक बार देखा था। दो-बार बातचीत भी हुई थी। इसलिए उसने बिना कुतूहल के जवाब दिया, छोटे साहब सैर को जा रहे हैं।

"कब?" रज्जू का गला भर आया।

"अभी, थोड़ी देर में"—शोफर ने मोटर के हुड को नीचे गिराते हुए जवाब दिया।

रज्जू दरवाजे के पास मकान की ओर टकटकी बाँधे खड़ा हो गया। दस मिनट भी न गुजरे थे कि एक सुघर युवक की मूर्ति प्रकट हुई। गोरा रंग, बड़ी बड़ी आँखें, मुस्कराते हुए होंठ, विलायती सिला हुआ बढ़िया कोटिंग का सूट, सिल्क हैट, सिल्क टाई और बिल्लौर की भाँति चमकता हुआ जूता। रज्जू चकाचौंध हो गया। जहाँ खड़ा था, कुछ क्षण वहीं खड़ा रहा। यही छोटे साहब थे।

आखिर रज्जू ने अपने आपको जरा सँभाला। कपड़े ठीक-ठाक कर मोटर की ओर लपकते हुए रत्न के सम्मुख जा खड़ा हुआ।

"क्या चाहते हो?"—पुत्र ने पिता से पूछा।

रज्जू की जबान पर मुहर लग गई। मूर्खों की भाँति टुकर टुकर देखता रहा।

कोई भिखारी है, युवक ने सोचा। जेब में हाथ डाल, एक आना रज्जू की ओर फेंक, मोटर में जा सवार हुआ। मोटर एक क्षण में ही भाग चला—

रज्जू ने मोटर की ओर देखा। और फिर पाँव के पास पड़े हुए निकल के टुकड़े की ओर देखने लगा। उसकी आँखों से एक-दो आँसू टपके और फिर रुक गये।

अपने किये हुए सौदे पर रज्जू किसको दोष दे सकता था।

१६२६

❀ ❀ ❀

आतिथ्य

श्री जैनेन्द्रकुमार

(१)

उनका घर भी दिल्ली में है, पर जान-पहचान हुई यहाँ इतनी दूर आकर। वे भी फर्स्ट ईयर में दाखिल हुए हैं, मैं भी। विषय भी एक ही हैं—दोनों के पास साइंस। होस्टल में कमरे भी पास-पास हैं। हमारी जान-पहचान खूब गहरी होने लगी। धीरे-धीरे स्थान का नयापन भी दूर हो गया और हम होस्टल की जिन्दगी में मिल गये। अभी तक थे तो होस्टल में ही, पर कुछ बेसुरे-से लगते थे।

मेरे मित्र पैसे और दिल से अच्छे हैं। खुले हाथ खर्च करते हैं। हाँ, जरा पढ़ने में थोड़ा कुछ... । बड़े कमरे में रहते हैं, श्रीसीटेड है वह, और इसलिए तिगुना किराया भुगताते हैं। उनके साथ उस कमरे में ही उनका एक नौकर और एक रसोइया रहता है।

थोड़े दिन बीते कि उनके चारों ओर एक मण्डली जुट गई। या यह कहें कि उनके रसोइये के चारों ओर एक मण्डली जुट गई। कुछ मित्रों ने मुफ्त के महराज, मुफ्त के नौकर और मुफ्त के श्रीमान् को पाकर एक नया मेस खड़ा कर लिया है। मैं भी उस मेस में ही भोजन पाता हूँ।

मित्र का नौकर सबका नौकर है, और उस महाराज पर भी सभी हुक्म चढ़ा देते हैं—मित्र इससे बड़े प्रसन्न हैं। वास्तव में वे बहुत ही भले आदमी हैं। पन्द्रहवें रोज पिकनिक पार्टी की जाती है, और उसका भार भी बिना कहे-सुने वही उठाते हैं, मानो उन्हें मालूम भी नहीं होता। यह पिकनिक की सूझ भी उन्होंने ही सुझाई है, नहीं तो यहाँ किसको पड़ी है और किसके पास पैसा है।

मित्र इस तरह खूब प्रिय और खूब परिचित हो गये हैं। मेरी उनकी तो बात ही क्या, सभी मानो उनसे घनिष्ठ हो गये हैं और थोड़ा उनका भार और आभार उठाने को तैयार रहते हैं।

इसी तरह साल बीतते रहे। छुट्टी में दिल्ली आते तो वहाँ भी साथ रहते, कालेज में तो रहते ही। मुझे उनसे और तरह की बिन माँगी कृपा मिलती ही थी, उनको भी मुझसे माँगी हुई पढ़ाई की मदद मिल जाती थी। सारांश, हम बहुत अभिन्न हो गये।

(२)

आखिर आँधी आ गई। कालेज टूट-टूटकर गिरने लगे और लड़के भागने लगे। तब मानो यह बड़ा-सा हिन्दुस्तान करवट ले रहा था, करवट के साथ करवट नहीं लोगे तो मानो कहीं के न रहोगे। गाँधीजी की उस आँधी की चपेट में मैं भी आया, मेरा दिमाग मानो उड़ने लगा। मानो अभी आसमान-धरती एक कर दूँगा और भारतमाता की परतन्त्रता की बेड़ियों को एक चोट में कट-कट कर काट दूँगा। और इस तरह मैं अमर हो जाऊँगा।

कुछ आँधी की झोंक में, कुछ दिल-दिमाग की झोंक में, कुछ समझकर और कुछ शर्माशर्मी में मैं तो कालेज छोड़ बैठा—मित्र वहीं रहे।

अब मेरे लिए दो ही काम थे—देश-सेवा और भटकन। इस देश-सेवा में कई बाँस लगाये, पर नाप नहीं सकता कि देश कितने इंच आगे बढ़ा। आखिर जब देश वहीं का वहीं दीखा—बल्कि चाहे कुछ पिछड़ा हुआ—और सेवा का कुछ अन्त ही नजर नहीं आया और न महत्त्व, कुछ थकान होने लगी और मन और कुछ चाहने लगा। लोग भी मेरी देश-सेवा की कम प्रशंसा करने लगे और उससे तंग से दीखने लगे, और पिता की चिट्ठियों पर चिट्ठियाँ आईं और स्त्री की गड़बड़ खबरें और घर की बेपैसा हालत—क्षुब्ध मन से देश-सेवा छोड़ देनी पड़ी। सोचा था, कुछ करके दिखाऊँगा और पूजूँगा, सो कुछ करके तो दिखा न सका, उल्टे पीठ दिखाकर भागना पड़ गया। घर पर आकर चुपचाप बैठ गया। पिता बीमार हैं, स्त्री भी ठीक नहीं है, और बच्चे यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ और सब जगह से फिर-फिर कर चौके में घूम रहे हैं। चौके में कुछ बना नहीं, कौन बनाये और कैसे बनाये?

इस पिता-स्त्री की बीमारी और बच्चों के यों घूमने का परिणाम यह हुआ कि मैं एक मिडिल स्कूल में मास्टर हो गया। इस दवा ने काम भी खूब किया। क्योंकि पिता चंगे हो गये, स्त्री भी ठीक रहने लगी, रोटी भी ठीक बनने और बच्चों को मिलने लगी। ३५) की करामात को अब देखा। हजारों रुपये इकट्ठे किये हैं, और दे दिये हैं, रूखी रोटी भी खाई है और पैदल भी चला हूँ—पर पैसे का पूरा मूल्य और पूरी करामात अब से पहले समझ में नहीं आई। देश-सेवा में ऐसी करामात नहीं नजर आई। उसे ३५) में छोड़ देने के लिए मैं पछताता नहीं हूँ। अपनी देश-सेवा से मैं अभी तक एक भी रोगी नहीं अच्छा कर पाया हूँ, एक को भी खुश नहीं कर पाया हूँ, एक को भी नहीं अपना बना पाया हूँ, यहाँ तक कि अपने को भी कुछ नहीं बना पाया हूँ। लेक्चर से यह कुछ भी काम नहीं होता। इन ३५) से अच्छा भी किया, खुश भी किया, लोग भी कुछ अपने बनते जा रहे हैं, और अपने को भी समझता हूँ, बना रहा हूँ।

(३)

तो इसी मास्टरी के काल में कोई ७ साल बाद एक रोज दिखाई दे गये वही कालेज वाले मित्र।

चाँदनी चौक में कुछ खरीद कर रहे हैं। हैट है और चमकते बूट हैं, पतलून बड़ी नफीस है, कोट नाभि से जरा नीचे तक आ गया है।

कालेज की मेरी पढ़ाई की सारी श्रेष्ठता रक्खी रही, और मैं झिझकता रहा। बोलूँ या न बोलूँ ? बोलूँ कैसे बोलूँ—'सर' या और कुछ। इतने में ही उन्होंने मुझे देखा।

'ओ-हो, प्रसाद बाबू, तुम वहाँ!'—हाऊ-डू-यू-डू?'

मैंने गुनगुना दिया—"अच्छा हूँ—यहीं हूँ। कृपा है।"

वे निस्संकोच खुल कर बोले—खरीद भी होती जाती थी। एक हैट, कुछ ग्लव्ज, और कुछ और चीजें जिनकी अँगरेजी नहीं आती, खरीदी गईं। तब फिर वे हाथ पकड़-कर मुझे साथ ले चले। मुझे उनके बोलने में थोड़ी कहीं 'स्वामित्व' की ध्वनि मालूम हुई—बाकी कुछ नहीं।

"कहो भाई, क्या, करते हो?"

"मास्टरी से पेट भरता हूँ।"

मेरा भी पुराना साहस लौट आया। फिर अच्छी तरह बातें होने लगीं।

पता लगा बी० एस-सी० के बाद वे इँगलैंड चले गये थे। वहाँ से हालैंड डेनमार्क। उनका विषय गोरक्षा और गोवर्द्धन था। इस सम्बन्ध में वहाँ बड़ा काम हो रहा है। सब देखा। उसी ओर की कोई डिग्री भी लाये हैं। गोसेवा की ओर उनकी पहले से प्रवृत्ति है। वहाँ जाकर देखा कि इस सम्बन्ध में हिन्दुस्तान में काफी किया जा सकता है। यहाँ वहाँ से भी ज्यादा सुविधायें हैं। उन देशों में ही जाकर हिन्दुस्तान की इस सम्बन्ध की परिस्थिति का अध्ययन किया। ताजे-नये वैज्ञानिक तरीके उपयोग में लाये जायँ तो यहाँ गोवंश खूब बढ़ाया और उन्नत किया जा सकता है। लेकिन इस ओर ध्यान ही नहीं दिया जा रहा। भारत कृषि-प्रधान देश है। गो-वंश पर उसका आधार है। इसलिए गो-सेवा के प्रश्न में ही उसका लाभ है। भारत की स्वतन्त्रता भी उसी प्रश्न में संश्लिष्ट है। खेद है कि नेता लोग उस ओर ठीक ध्यान नहीं देते। उनका यही काम होगा कि इस प्रश्न के महत्त्व को प्रकट करें। वे एक गोशाला (डेयरी) खोलने जा रहे हैं। बिल-कुल आधुनिक तरीके पर। उससे दूध शुद्ध मिलेगा, और गोवंश की रक्षा और उन्नति के सब उपाय काम में लाये जायँगे। गोवंश कैसा क्षीण होता जा रहा है, और भारत सो रहा है—धिक्कार है!

इस सबका आशय समझ मैंने आश्वासन दे दिया—डेयरी खोलिए। सेर भर दूध रोज तो मैं ले लिया करूँगा, अपने मित्रों से भी कहूँगा।

उन्होंने भी देखा, उनका निष्काम लेक्चर व्यर्थ नहीं गया।

तब और और बातें हुईं। अभी १५।२० दिन हुए ही लौटे हैं। बड़ा खर्च पड़ता है। पाँच साल में १२ हजार। परदेश बड़े अच्छे हैं, जी होता था, वहीं रहने लगूँ। सोचा भी। पर देखा, भारत का ऋण है। उसे चुकाना होगा। भारत को खींचकर उसी पुराने गो-सेवा के लक्ष्य पर लाना होगा। पहले.............

फिर वही लेक्चर था जिसे मैंने बड़े धीरज से बर्दाश्त किया। आखिर जब घर पास आया तब बोले—

"अच्छा......"

"मैंने भी कहा—"अच्छा।"

"भाई कभी कभी मिल लिया करो।"

"जरूर मिल लिया करूँगा। डेयरी का पता तो लगेगा ही।"

"हाँ हाँ। क्यों नहीं? वाह!"

इस तरह घर के दरवाजे पर लौट जाने को मुझे स्वतन्त्र छोड़ वे चले गये।

पुराने अभिन्न मित्र को पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। घर में जाकर बात सुनाई—सबने मुझे भाग्यशाली स्वीकार किया, और अपनी-अपनी श्रद्धा-भेंट उनके दरवाजे पर चढ़ाने को सोचा।

(४)

उसके बाद दो-एक दफे देखा तो उनमें अन्तर पड़ गया था। बाकी बात वही थी—कपड़े बदल गये थे। यह नहीं कि मूँछें रखा ली हों। हाँ, अब खद्दर की टोपी, और आन्ध्र की मलमल-सी खद्दर की धोती और कुर्ता और चप्पल। बग्घी में बैठे होते थे। मैं पटरी पर चलता होता था—बग्घी सर से निकल जाती थी। कभी देख लेते तो मुस्करा पड़ते थे। तब वे अपनी डेयरी की जुस्तजू में थे, और नेताओं से मिलने-मिलाने का काम करते थे।

आखिर एक दिन दिन-दहाड़े ऐसा बीच-सड़क चल

रहा था कि बग्घी को अपने आप रुकाना पड़ गया। वे उतर आये। बोले—कहाँ जा रहे हैं, प्रसाद जी ?

"दरियागंज।"

"तो चलिए, मुझे भी उसी तरफ जाना है। बैठ चलिए।"

मैं निष्कंटक बैठ गया। तब पता मिला, डेयरी के काम का आरम्भ हो गया है। कभी वहाँ पहुँचने का निमन्त्रण भी मिला। "आओ भाई, किसी दिन देख जाना। कुछ नहीं तो सैर ही सही। दूर तो है ही। कुल यहाँ से ३–४ मील जगह होगी।" मैंने कुछ हाँ-हाँ हूँ-हूँ कर ही दिया।

तब कितनी जमीन ली गई है, किस तरह उसे बोने के लिए बाँटा है, गायों की किस्म और तादाद और कीमत और विशेषतायें, और गुणगान और उनका महत्त्व आदि-आदि का अविरल बखान मैंने भी सुन लिया। उनकी गाड़ी में बैठा था। पर आपसे धीरज से न सुना जायगा। इसलिए जाने दें।

उनका रास्ता जहाँ अलग होता था, वहाँ—

"अब......यहाँ .....

मैं चट से बग्घी से कूद पड़ा।"

"देखो, प्रसाद, आना। किसी दिन भी आ जाना। नहीं तो मैं ही ले चलूँ ?"

मैंने भी कह दिया—यही ठीक होगा। घर पर ८ बजे मिलूँगा—चला चलूँगा—एतवार को।

"अच्छा मैं गाड़ी लेता आऊँगा। ध्यान रखना।"

"अच्छा"

उनकी बग्घी चली गई और एतवार को घर पर नहीं आ सकी। पीछे पता चला, आवश्यक काम लग गया था।

(५)

मेरे घर एक स्वामी जी आये हुए हैं। असहयोग के जमाने ने उन्हें अकस्मात्, संयोग-वश प्रसिद्धि दे डाली है। पर प्रसिद्धि उनके योग्य नहीं है। प्रसिद्धि जैसी बाजारू चीज उनके साथ लगी अच्छी नहीं लगती। वे उससे घबराते भी हैं। मुझ पर उनका विशेष अनुग्रह है। मेरे वे पिता और गुरु सरीखे हैं। मेरे इस हारे—अधःपात के—जमाने में भी अपना अनुग्रह उन्होंने मुझपर से नहीं उठा लिया है। वे बड़ी जगह ठहरने और जाने से बचते हैं, और मेरे ही यहाँ ठहरते हैं।

दिल्ली की तंग गलियों और मकानों में उनकी उन्मुक्त आत्मा चैन नहीं पाती, इससे वे दिन में और रात में ज्यादातर बाहर निकल जाते हैं, खाने का तो हमारे यहाँ ठीक है, बाकी कुछ नहीं।

एतवार का दिन था। मेरी छुट्टी थी। स्वामीजी ने कहा—हम तो जाते हैं।

"कहाँ जाइएगा ?"

"जिधर को चल दिया।"

"अच्छा ठहरिये", मैंने कहा और मित्र की डेयरी जाने के आमन्त्रण की बात सोचनी आरंभ कर दी। दिन अच्छा है, चलो यही सही और आज ही सही। अपने ऐसे बढ़िया मित्र को दिखाकर अपने मन की भी थोड़ी शाबाशी जीतने की इच्छा हुई। स्वामीजी की निगाह में मैं कुछ उठ ही जाऊँगा। बोला—

"स्वामीजी, एक जगह चलते हैं। एक डेयरी है, खुली जगह है, खेती भी है। मेरे एक पुराने मित्र का स्थान है।"

"चलो।"

मैं, मेरी स्त्री, छोटा बच्चा और स्वामीजी—गाड़ी लेकर हम चारों चल दिये। दोपहर होते-होते वहाँ पहुँच गये। मित्र वहीं मिले।

बड़ी लम्बी-चौड़ी जगह है। यह गायों के रहने की जगह है, यहाँ दुही जाती हैं, यहाँ चरती हैं, वगैरह-वगैरह।

जमीन इस तरह बाँटी गई है, इतने में चरागाह, इतने में नाज की खेती, इतने में साग-भाजी, थोड़े में फल-फूल—उधर ईख है—यह सब कुछ भी; पानी का भी इंतजाम किया, इतनी कठिनताओं का सामना करना पड़ा, अब बहुत ठीक हो गया है, खर्च बड़ा पड़ गया है—आदि आदि व्यवसाय की बातें भी; दूध ऐसे ठीक रहता है, जर्म्स नहीं रहने चाहिए, यह करना चाहिए आदि आदि ज्ञान की बातें; अपने इस आदमी की और उस गौ की शिकायत और तारीफ—इस प्रकार मित्र ने फुटकर सूचनाओं और ज्ञान का भांडार हमारे सामने पटक दिया। हमने कुछ सुना, कुछ नहीं सुना और बाकी बिखेर दिया।

हमने गो-सेवा के और कमाई के इस काम को देखकर प्रसन्नता जतलाई।

तब खाने की कुछ इच्छा प्रकट की। लेकिन यह भूल गये कि इस साल पाला कड़ाके का पड़ा था। खेती का सत्यानाश कर गया। चने के पौधे मरे पड़े हैं, बूट अभी न जाने कब आयेगा; बाल गेहूँ की आई नहीं, झुलस गई है; इसी से मटर में भी दाने नहीं पड़ पाये हैं। आखिर एक जरा ठीक सा चने का खेत पड़ा है। किन्तु हैं!

"उसमें फूल आ गये हैं, उसे नहीं। मैं दूसरा खेत बताता हूँ। वहाँ चने का साग ठीक मिलेगा।"

मेरी स्त्री ने चौंककर उस फूलदार चने के साग पर से हाथ उठा लिये। दूसरे खेत पर पहुँचे —कोंपल तोड़ तोड़कर खाकर कुछ तुष्टि प्राप्त की। मित्र इस बीच अपने इस उद्योग की अवस्था हमारे सामने फैलाते रहे—

"खेती यों होती, पर यह पाला......!"

पता चला गाजर-मूली हैं। उन्हें भी मँगाओ भाई! आखिर लौटकर आये और दुग्धशाला के आगे खुले मैदान में खाट डालकर बैठ गये। पेंसिल सी मूलियाँ और अंगुल भर की गाजरें धोकर तश्तरी में पेश की गईं। हम चार जने एक तश्तरी भर में 'फल' कैसे खा जायेंगे?—तश्तरी सामने पेश करके सभ्यता को भी यह देखने खड़ी हो गई है। इससे कुछ तो भूख ही खाई और बड़े आहिस्ते से उठाकर तश्तरी में रक्खी इन फलों की एक-एक तराश खाई। खा चुके तब मित्र ने हुक्म दिया और तश्तरी नौकर उठा ले गया।

लेकिन बच्चा भूख नहीं निगल सका है। और मेरी स्त्री भी जरा-जरा..... । मैं बड़ा सभ्य बन रहा हूँ, मानो वह तराश भी मेरे पेट में जाकर बैठ रही हैं। स्वामीजी जी बड़ प्रसन्न हैं।

एक बात भूल गई, गायों को दुहने वाले आदमी को ६ रोज हुए एक गाय ने लात मार दी थी। उसके आँख में लगी, आँख बेकाम हो गई, और उसे अलग कर देना पड़ा। अभी तक दूसरे आदमी का बन्दोबस्त हो नहीं पाया है। इसलिए उससे ही काम चलाना पड़ता है। इस तरह मिकदार से ८ पौंड दूध कम दुहा जाता है। कारण बताया गया—

"दुहने की एक खास प्रणाली होती हैं। जोर भी पड़ता है। आदी होने की बात है—जो नहीं जानता वह... ।"

लेकिन कारण जानने को हम बहुत उत्सुक नहीं हैं। बस हो गई बात कि ८ पौंड दूध कम होता है।

तो शाम हो रही है। अब चलना चाहिए। उधर सामने ही पौने दो-सौ पौंड दूध तुल चुका है। अब सील लगा के बाजार में जायगा। बँधे गाहक हैं, वहीं पहुँच जाता है। बल्कि ८ पौंड कम दूध होने से बड़ी मुश्किल हो रही है। डिमांड ज्यादा है, सप्लाई कम—फिर उसमें से भी ये ८ पौंड कम हो गये हैं। बड़ी मुश्किल है।

कैसा साफ-सफेद गाढ़ा दूध भरा रक्खा है। और कितना सारा! बच्चे ने मा से कहा और मैंने सुना। पर मैं चुप रहा। स्वामीजी ने भी सुना, वे भी चुप रहे और हँस पड़े।

आखिर बच्चे की खातिर स्त्री को बेहयाई भुगतनी पड़ी। अलग बुलाकर कहा—बच्चे के लिए थोड़े दूध को कह दो।

मन करारा बनाकर मैंने जवाब दिया—हाँ, हाँ, सो क्या बात है?

मैंने फिर मित्र से कहा—भाई, डेयरी में आये, दूध चखा ही नहीं, यह भी कोई बात है? मित्र पानी हो गये, बोले—भई प्रसाद, ८ पौंड.......

आगे की बात नहीं कहूँगा। चुप कर देने वाली सफाई थी।

जी हुआ उस पौने दो सौ पौंड दूध में थूक दूँ और कीमत देकर मुकाबले को खड़ा हो जाऊँ। लेकिन कहा—जाने भी दो। तो क्या हुआ? ऐसा क्या मैं कुछ नहीं समझता?

फौरन हम चले आये। बच्चा भूखा रहा, प्यासा रहा, पर रास्ते में कोई बाजार थोड़े ही पड़ता है जो कुछ लेकर दे दिया जाता?

(६)

घर के सब लोग इकट्ठा हुए—स्वामी जी ने हँसकर कहा—देखे, आपके मित्र? यही तो दुनिया है।

मैं बचाव पर उद्यत हुआ, बोला—वे... । लेकिन...... ।

पर बात कहने को मिली नहीं। स्वामी जी ने कहा—तुमको भी ऐसा ही बनना चाहिए। —समझे?

मैं चुप।

तब से स्त्री को अच्छी बात कहने को मिल गई है। और मैं चुप हो जाता हूँ। पर मैं अब भी समझता हूँ—लाचारी एक चीज होती है; और नीयत पर हमला न होना चाहिए।

लेकिन स्वामीजी सब बातों पर हँस देते हैं।

१६३०

❀ ❀ ❀

कमला

श्री सूर्य्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला'

(१)

कमला सोलहवें साल की अधखुली धुली कलिका है। हृदय का रस अमृत-स्नेह से भरा हुआ, खिली आँखें नावों-सी चपल लहरों पर अदृश्य प्रिय की ओर परा और अपरा की तरह बही जा रही हैं।

गत वर्ष कमला का पाणि-ग्रहण-संस्कार हो चुका है। पर मकान की प्रथा के अनुसार बारात के साथ वह बिदा नहीं हुई। अभी पति केवल ध्यान ही का विषय है, ज्ञान का नहीं। अभी सिर्फ सुनती, सोचती और मन ही मन प्यार करती है।

कमला के पति पण्डित रमाशङ्कर बाजपेयी आज दोपहर के समय आये हुए हैं। टेढ़ा के रहने वाले, भाई के जनेऊ में उसे कुछ दिनों के लिए बिदा करा ले जायँगे। पिता ने भेजा है।

पण्डित रमाशङ्कर के आने की खबर गाँव भर की युवतियों में तेजी से फैल गई। कमला की सहेलियाँ उसके घर महफिल जमाने के विचार से चलीं। माता बहाने से दूसरे के घर चली गई। हँसी-मजाक दिल्लगी गूँजने लगी। वाजपेयी जी जनान-खाने में ही आराम कर रहे हैं। दिन का पिछला पहर तीन का समय है। सखियाँ पान लगा कर देतीं, बुझौवल-कहानियों के लटके कहतीं, अर्थ पूछती हैं। बाजपेयी जी अर्थ जानते हैं या नहीं, नहीं मालूम; जवाब नहीं देते; न झेंपकर झेंपते हैं। "कहाँ तक पढ़े हैं आप?" "कुछ तिरिया चरित्तर भी सीखा है?" "आपकी बहन का नाम?" उत्तर की प्रतीक्षा के बिना ही प्रश्न होते रहे। वाजपेयीजी के क्षुद्र घट में एक साथ इतना आदि-रस नहीं अट सका। जी उकताने लगा। उधर वाजपेयीजी का वैसा भरा-पूरा मुँह देखकर रस का सागर उमड़ता ही गया। छिपने के इरादे वे उठकर बाहर की तरफ चले तो कमला से कुछ छोटी रिश्ते की उसकी एक बहन ने फुर्ती से हाथ पकड़कर कहा—लो—, मेरे पान तो अभी खाये ही नहीं, मैं आपकी बहन लगती हूँ (खिलखिलाकर हँसी)। देखिए, दीदी और आप एक हैं। दीदी की मा आपकी मा हैं तो दीदी की बहन? "आपकी बहन हुई।" तीन-चार सहेलियाँ हँसती हुई एक साथ कह उठीं। बाजपेयीजी ने पान ले लिये, लजाये हुए बाहर चले गये।

(२)

कमला कानपुर में रहती है, छोटा भाई उन्नाव मे अँगरेजी स्कूल में पढ़ता है। पिता का देहान्त हो गया है। उसके पिता पण्डित रामेश्वरजी त्रिपाठी अहमदाबाद में कपड़े की दूकान करते थे। इसी से कुछ धन एकत्र कर लिया था। कमला कभी कभी माता के साथ अहमदाबाद जाया करती थी। शिक्षा हिन्दी की मिलती थी। पर मराठी और गुजराती बालिकाओं में रहने के कारण उन दोनों भाषाओं पर भी कुछ दखल पा गई है। तीनों भाषायें पढ़ लेती, तीनों में पत्र लिख लेती है। पिता की मृत्यु के बाद उसका विवाह हुआ। माता ने अच्छा घर पढ़ा-लिखा बर देखकर विवाह किया था। दहेज में तीन हजार दिये थे। कमला के पति पण्डित रमाशंकर अँगरेजी

के एम० ए० हैं : इसी साल परीक्षा दी है, अभी फल नहीं निकला।

कमला के पड़ोस में ही कई घर उसके खानदान के हैं। मकान के मालिक पण्डित शिवरामजी से कमला के पिता की नहीं बनती थी। इसका एक कारण था। कमला की माता एक गरीब कान्यकुब्ज की लड़की थी। बीस साल तक अविवाहिता बैठी रही। पिता का देहान्त हो चुका था। माता के पास इतना धन नहीं था कि लड़की की शादी बराबर वाले घर में कर देती। कमला के पिता कल्याण-भार्य थे। बिना दहेज लिए ही उन्होंने उसकी माता का उद्धार किया। यह बात उनके खानदान के आदमियों को अच्छी नहीं लगी। इसका एक दूसरा कारण भी था। कमला के ननिहाल वाले भैयाचार भी कमला की नानी को गरीबी के कारण छोड़े हुए थे कि खान-पान रखने से लड़की की शादी न करानी पड़े। अलग होने के अनेक कारण भी उन लोगों ने गढ़ लिये थे, जिनमें कमला की नानी और कुमारी माता के चाल-चलन में फर्क बतलाना मुख्य था। यह सुनकर कमला के पिता-पक्ष के भैयाचार विवाह के समय से अब तक कमला की माता से कोई तअल्लुक नहीं रखते थे। कमला के विवाह के समय भी नहीं गये। विवाह हो जाने पर वाजपेयीजी से शिकायत करने की ताक लगाये बैठे थे।

(३)

रात एक पहर बीत चुकी। पण्डित रमाशंकर भोजन कर चुके। ऊपर के कोठे पर पलँग बिछा दिया गया था। वहीं लेटे हुए हैं। कमला की माता और कमला का भी भोजन हो चुका।

कमला को अनेक प्रकार की सीख दे पान और पानी लेकर पति की पद-सेवा के लिए भेजकर ईश्वर-स्मरण करती हुई माता नीचे अपनी चारपाई पर लेट रही।

कमला के मन में माता की शिक्षा, मस्तिष्क में पति की सेवा, आँखों में एकनिष्ठ अविचल ज्योति, होंठों पर लाज की मधुर मन्द मुसकान—कपोलों तक चक्राकृति फैलती हुई, आत्मा में मृदु-मृदु प्रणय-भय, पैरों में पाय-जेबों का विजय-शिंजन। ज़ीने की एक एक कली पर पैर रखती, रति की मधुर झंकृत रमाशंकर के भीतर का एक एक कमल खिला देती है।

आकाश के चाँद का फूल पृथ्वी पर ज्योतिर्मय परिमल ढाल रहा है। कोठे के झरोखों से किरणें, अदृश्य अप्सराओं की तरह, दो सुहृदों को प्राथमिक प्रणय के दृढ़ पाशों से बँधते हुए देख हँसती हुई चली जाती हैं। हवा नीम के फूलों की भीनी महक से दोनों को मौन स्नेह में ढँक कर बह रही है। हृदय के रत्नाकर ने आज ही विष्णु को लक्ष्मी दी, लक्ष्मी को विष्णु।

कमला ने जल भरा ढक्कनदार लोटा और गिलास रख दिया। डिब्बे से निकाल कर रमाशंकर को पान दिये। पलकें झुकाये पलँग के एक ओर खड़ी रही। जहाँ कमला का यथार्थ स्थान था—रमाशंकर का अन्तरतम प्रदेश—वहाँ से कमला के उस प्रान्त में जहाँ रमाशंकर डूबा हुआ स्मृति में चमक रहा था, प्रतिध्वनि हुई—"बैठो।" स्वप्न-संचलित-सी कमला पैरों की तरफ, बैठ गई, दबाने के लिए अपनी तरफ वाला दाहना पैर पकड़ लिया, दबाने लगी। झरोखे से चाँद सीधे मुख पर पड़ रहा था, तमाम पलँग चाँदनी से जगमग।

कमला पैर दबा रही है, रमाशंकर एकटक उस अर्द्ध-स्फुट कली की नवल मुख-कान्ति पान कर रहा है। प्रति शिरा एक नये जीवन से मजबूत, उसे अपनी ही दृढ़ता में स्खलित कर न जाने कितनी दूर, सौन्दर्य के किस अपरिचित लोक में पतंग की तरह उड़ा ले गई। आज तक के बन्द कितने ही रहस्यद्वार उस किरणमयी के सौन्दर्य के जादू से गुलशबों की तरह खुल खुल गये। उसी के प्रकाश से पथ देखता हुआ वह वहाँ वहाँ हो आया।

कमला को थकी हुई जान यथासमय रमाशंकर उठकर बैठ गया। बड़े स्नेह से हाथ पकड़ चाँद की तरफ बैठा लिया। पैर लटकाये, मुक्त-ज्योत्स्नाकलित अकल आकाश देखते हुए, एक दूसरे का हाथ लिये दोनों चुपचाप बैठे रहे। खुले हुए हृदय ने कमला का संकोच दूर कर दिया। प्रणय का मौन स्पर्श दोनों के हृदय को पुलकित करता रहा। भाषा आप बन्द हो गई जैसे शक्ति की चंचलता हो।

मौन स्थिति में रहने की अनिच्छा या परिवर्त्तन ने दोनों को सृष्टि की चपलता—वाक्य-कलाप, केलियों में उभाड़ दिया।

कितनी बातें हुईं, कितने विश्रृंखल परिणय-प्रसंग छिड़े, रमाशंकर की कितनी बड़ी विद्वत्ता ने कमला को

वार्तालाप को बराबर जगह दी और निस्सङ्कोच कमला उसके समान ही वाक्पटु रही !

वह रात दोनों को जागते, तरह-तरह गपशप लगते हुए कटी, वह जागरण की रात्रि भविष्य के जीवन के लिए चिर-स्मरण-रात्रि बन गई । चिड़ियों की चहक सुन दोनों ने देखा, रात पार हो रही थी ।

कमला के हृदय में रमाशंकर का कहा हुआ एक वाक्य हमेशा के लिए रह गया—"तुम्हारे बिना मेरे जीवन का अर्थ ही क्या ?"

(४)

उसी रोज दिन में ग्यारह बजे के करीब एक नाई रमाशंकर के पास खबर लेकर पहुँचा । एकान्त में बुलाकर कहा—"चुपचाप चले चलिए । मालिक ने कहा है, बिदा कराने की जरूरत नहीं और इसी दम बुला भेजा है ।"

रमाशंकर के होश उड़ गये, कुछ देर सोचकर पूछा—"इसका कोई कारण भी है ?"

"हाँ, बिदा कराने पर भैयाचार और नातेदार छोड़ देंगे । बहुत बड़ी बात है । घर चलकर मालूम कर लीजिए ।"

रमाशंकर एक पेड़ की तरफ कुछ कदम बढ़ गया, पूछा—तुमको जो कुछ मालूम हो, कहो ।

नाई ने मुँह बनाकर कहा—भैया, अब घर में ही सब समझ लीजिएगा । बड़े घरों की बात नहीं कही जाती ।

रमाशंकर का दिल बैठ गया, फिर उमड़कर अदम्य आग्रह से भर गया, पूछा—"हम कहते हैं, संकोच छोड़कर कहो ।"

नाई लाचार जमीन पर नजर गड़ाये हुए कहने लगा—कल यहाँ के कुछ लोग, इन्हीं के भैयाचार, गाँव गये थे । जगनू बापू, रामकिशोर चाचा, भगवानदीन दादा वगैरह (ये सब रमाशंकर के भैयाचार हैं जो जुदा रहते हैं ।) को अलग बुलाकर कहा कि लड़की काम की नहीं है । कानपुर में किसी मुसलमान—रमाशंकर क्षोभ से काँपने लगा—कमला पर बड़ा क्रोध हुआ ।

नाई कहता गया—अब भैयाचार नातेदार सबको मालूम हो गया है । सब की राय है कि आप चले चलें, फिर जैसा होगा, किया जायगा । आपकी सास का भी चाल-चलन अच्छा नहीं, न उनके मायके में ही अच्छा रहा । सब भैयाचार छोड़े हुए हैं ।

रमाशंकर सोचता रहा । विषय कोई न था, थी चिन्ता और क्रोध की छाप जिसका अर्थ था—स्त्री-जाति में कितना छल होता है !

प्यार रमाशंकर को बहुत दूर ले गया था । अब हृदय के टुकड़े-टुकड़े हुए जा रहे हैं, पर उसे प्रमाण की जरूरत नहीं । प्यार प्रमाण नहीं चाहता ।

रमाशंकर मकान गया, चुपचाप अपना छोटा सन्दूक उठाकर चल दिया । उसकी सास उस समय घर में न थी ।

कमला खड़ी थी । भोली दृष्टि से देखती रही । रमाशंकर सिर झुकाये एकाएक चला गया ।

(५)

बिना बिदा कराये रमाशंकर का चला जाना सखियों तथा गाँव के लोगों में कमला तथा उसकी माता का बहुत बड़ा अपमान हुआ । सखियाँ कमला के आँसू पोंछतीं, उसे ढाढ़स देती थीं । कुछ दिनों में उसके भैयाचारों की स्त्रियों से उन्हें हाल भी मालूम हो गया और उसकी माता भी समाचार पा गयी ।

कमला कारण सुनकर सूख गई । यह बात बिलकुल झूठ थी । कानपुर में वह अपनी मौसी के यहाँ थी, उस समय एक रात वहाँ चोरी हुई थी जिसका अर्थ भैयाचारों ने अपनी तरफ से इतना बढ़ा लिया था, और विवाह हो जाने के बाद यह जौहर खोलने का इरादा किये हुए बैठे थे । कमला की माता की दशा थोड़े ही दिनों में शोचनीय हो गई; कमला भी हवा में डोलने-सी लगी ।

गर्मी की छुट्टी हुई । कमला का भाई राजकिशोर घर आया । बालक को घर की दशा देख बड़ी घबराहट हुई । गाँव के लोग उसे साथ ले वाजपेयी जी के यहाँ चलने लगे । कमला ने रोक दिया । माता को सोचते-सोचते और फाके करते करते कमजोरी से बुखार आ गया । क्रमशः कफ से फेफड़े जकड़ गये, हालत चिन्ताजनक हो गई ।

एक दिन बालक राजकिशोर ने गाँव में चर्चा सुनी तब उदास होकर माता के पास आकर कहा—अम्मा, वाजपेयी जीजा का दूसरा विवाह हो रहा है । रामअधीन चाचा आज बात-चीत करते थे । कोई डिप्टी कलक्टर फतेहपुर के हैं, उनकी लड़की के साथ । कमला खड़ी थी ।

माता ने सुना, आँखों में आँसुओं की धारा बँध गई। बोलने की रही-सही क्षीण शक्ति भी जाती रही। उसी सजल दृष्टि से कमला को पड़ी हुई देखती रही।

कमला भी अब मरु-निर्झरी की तरह अलोप-जल हो रही थी! माता की दशा देख सिरहाने बैठकर सिर पर हाथ फेरने लगी; बरबस आँखों से आँसू टपकने लगे।

यह कष्ट माता से न सहा गया; उसी रात उनका देहान्त हो गया। गाँव के अपर लोगों की मदद से लाश गंगा पहुँचा दी गई। राजकिशोर ने दाह किया।

(६)

विवाह के लिए रमाशंकर की इच्छा न थी। उसकी चोट ताजी थी। हृदय बैठ गया था। कमला को वह इतना प्यार कर चुका था कि अब विवाह की तरफ से बिलकुल वीतराग हो रहा था। मन उड़ा फिरता था। हृदय में जगह थी नहीं, था दर्द, जहाँ उसे केवल कष्ट मिलता था। गाँव में कोई और उसका साथी न था, सिर्फ बगीचे थे। पुत्र की इस दशा से उसका दूसरा ब्याह कर देना उसके पिता तथा खानदान के लोगों को उचित मालूम दिया।

डिप्टी कलक्टर के छोटे भाई वर की तलाश में आये थे। लड़का बहुत पसन्द आया। विवाह पक्का कर गये।

एक रात की बात है। रमाशंकर सो रहा था। स्वप्न में देखा, कमला बगल में खड़ी है, आँखों से आँसू जारी हैं। उठकर बैठ गया। वह मूर्ति उसकी दृष्टि में लीन हो गई।

(७)

कमला की मौसी खबर पाकर आई, उसे अपने पास कानपुर ले गई। कुल क्रिया हो चुकी थी। राजकिशोर उन्नाव से सार्टीफिकट लेकर कानपुर में भर्ती हो गया।

दिन, सप्ताह, मास क्रम क्रम से जीवन की पूर्ति के रूप से, एक-मात्र भाई के स्नेह में बीतने लगे। कमला का चित्त भी पूर्व-स्थिति के विस्तार को संकुचित करता हुआ अपनी ही हद में आ गया।! दुःख का वह रूप नैराश्य के तम में लीन हो अब केवल सुप्ति की तरह जीवन की शान्ति में प्रवर्तित हो गया है। अब उसे कोई इच्छा नहीं; उसके प्राणों में कोई रंग नहीं। है केवल तपस्या जिस पर एक हिन्दू-महिला विश्वास की डोर पकड़े हुए अपना कुल जीवन निछावर कर देती है।

पति के प्रति कमला का काम ही क्रोध उभाड़ सकता था, मोह में बदल कर जीवन को कलंकित कर सकता था। पर अब उसका निशान तक नहीं रहा। वह अपनी कुल-प्रथा के अनुसार एक सौभाग्यवती की तरह व्रत-उपवास आदि करती। देवताओं को प्रणाम कर पति तथा भाई की कल्याण-कामना करती है। श्रृंगार में केवल सेंदुर उसे तृप्त कर रखने के लिए है।

एक सीने की मशीन उसने खरीद ली है। रूमाल, कमीज, कुर्ते आदि सीती। कभी कपड़ों पर छापे लगा बेल-बूटे काढ़ती। इसी तरह उसके अवकाश का समय पार होता है। उसकी मौसी माल बाजार में बेचवा देती। दूकानदार बिक जाने पर दाम दे देते थे।

कमला जहाँ रहती है, वहीं एक बगल में आर्य-समाज के मन्त्री जी रहते हैं और एक तरफ 'महिला-पत्रिका' की सम्पादिका।

एक रोज मन्त्रीजी की कुमारी कन्या उससे आकर मिली, अपनी घरेलू सभ्यता के अनुसार थोड़े सामान और भरे पूरे हृदय से कमला ने उसका स्वागत किया। बात-चीत होने लगी।

"तुम बहुत दिनों से यहाँ रहती हो, कल मैंने सुना।" मन्त्रीजी की लड़की वेदवती ने कहा।

"हाँ, मौसीजी के साथ कुछ महीने हुए आई हूँ।" कमला ने नम्र स्वर में कहा।

"तुम्हारा विवाह तो हो गया है?" माँग का सेंदुर देखती हुई, वेदवती ने पूछा।

"हाँ।" कमला ने सरल चितवन नीची कर कहा।

"तुम अपने पतिदेव के यहाँ कितने दिनों से नहीं गई?"

"जब से विवाह हुआ।" उसी सरलता से कमला ने कहा।

"क्यों, क्या अभी तुम्हारा गौना नहीं हुआ?"

"न।" कमला चुपचाप बैठी रही।

तब तक कमला की मौसी आ गई, और पड़ोस की

उसे प्रतिष्ठित घर की कन्या जान एक साँस में कमला के प्रति हुए पाशविक अत्याचार का वर्णन कर गई।

सुनकर गुस्से से वेदवती का चेहरा लाल पड़ गया—"तुम लोग कमजोर हो। किस्मत को कोसती हो। मैं होती तो चपत का जवाब दूने कस की चपत कस कर देती—उन्हीं की तरह अपना भी दूसरा विवाह साथ ही साथ करती, ऊपर से नेवता भेजती कि आइए जनाबमन, मेरे शौहर से मुलाकात कर जाइए। तुम्हीं लोगों ने अपने सिर स्त्रियों का अपमान उठा रक्खा है।"

कमला अपलक ताकती रही। वेदवती उठकर बाहर की ओर "अभी आती हूँ" कहकर चली गई। 'महिला' की सम्पादिका कुमारी सुशीला देवी को साथ लिवा लाई—"ये हैं", "देखो, पतिदेव के पिता जी ने बिना अपराध के परित्याग कर दिया। श्रीमान् पुत्रजी की दूसरी शादी कर दी।" परिचय दिया।

सुशीला बैठ गई। वेदवती खड़ी रही।

"तुम्हारी बातें एक नोट के रूप में 'महिला' में दे दूँ।" सुशीला ने राय दी।

"नहीं।"

"ये सब बुरे संस्कार हैं, बहन, इन्हें दूर करने की कोशिश करना ही हमारा धर्म होना चाहिए।"

"पर ये मेरी तरफ से बुरे संस्कार नहीं, लिखने के लिए कहने पर साक्षी बनकर ये मेरी ही तरफ के ठहरेंगे। मैं ऐसा नहीं चाहती।"

"पर मेरा धर्म भी तो एक है।"

"उसके लिए मुझसे आप राय क्यों लेती हैं? अगर आप लिखेंगी तो आप पर से मेरा विनय-स्नेह उठ जायगा। क्योंकि आप मेरे सम्बन्ध में मेरी मर्जी के खिलाफ कार्रवाई करेंगी।"

सुशीला एक-टक देखती रही। वेदवती भी स्थिर खड़ी सुनती रही। कमला अपने ही विचारों के लय में मौन बैठी हुई और दृढ़ होती रही।

"अच्छा फिर मिलूँगी, मुझे पाठशाला जाना है।" कहकर वेदवती चल दी। साथ साथ सुशीला भी गौर करती हुई चली गई।

(८)

दो साल और पार हो गये। कमला के स्वास्थ्य में अब पुनः भादों की बाढ़ है। भरी-पूरी परन्तु समय की तमिस्र तिथि के भीतर सधी हुई चाल से ठीक अपने ही समुद्र की ओर बहती जा रही है।

राजकिशोर के स्नेह की कमला महिलाओं में सर्वत्र चरित्रबल, आदर्श-प्रीति के कारण सम्मान तथा प्यार का पात्र बन रही है। स्त्रियाँ उसे देवी के भाव से, मन ही मन अपना आदर्श मानकर, पूजती हैं।

राजकिशोर अब सोलहवें साल का तरुण, प्रवेशिका-परीक्षा का कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थी है। सोलहवें साल में ही वह फूट कर जवान हो गया है। रोज कसरत करता, जोर करने के लिए अखाड़े जाया करता है। कमला का बाहरी लक्ष्य है भाई और भीतरी पति-धर्म है।

प्रातः स्नान करती है। कुछ देर रामायण-पाठ। फिर अपने अपने कार्य में निविष्ट होती है। रमाशंकर अब उसके लिए कोई बाहर का मनुष्य नहीं, वह अब उसकी आत्मा में अर्थमय बनकर है। इसीलिए अब कामना-जन्य प्रेम का खिंचाव उसके चित्त को हिला नहीं सकता। वह अब सब समय अकाम तपस्या-सी जीवन के कूल पर खड़ी अपने ही रमा-रूप के शंकर-शुभंकर निस्सीम सुन्दर को तन्मय देख रही है।

इसी समय कानपुर में हिन्दू-मुसलमानों में दंगे की बुनियाद पड़ी। एक रोज बड़ा हंगामा भी हुआ। दोनों तरफ के कितने ही घर लूटे, फूँके और ढहा दिये गये। कितने ही आदमी काम आये। जो हिन्दू मुसलमानों की बस्ती में थे उनके घर फूँककर, माल लूट कर, आदमियों को मारकर या जख्मी कर मुसलमानों ने उनकी स्त्रियों को अपने घरों में डाल लिया। ऐसा ही हिन्दुओं ने भी किया। अपने मसरफ में न आने लायक जानकर उन्होंने मुसलमानों की महिलाओं का भी बध कर डाला।

दोनों जातियों के लोग अपने-अपने दलों के भूले-भटके, गायब-शुदा लोगों की तलाश में लग गये। उसी समय एक मुसलमान के घर से दो हिन्दू युवतियाँ बरामद हुईं। राजकिशोर हिन्दू-दल में था। निस्सहाय जान अपने घर में जाँच होने तक जगह देने को राजी हो गया और कमला के पास लिवा लाया।

उन्हें नहला, वस्त्र दे, जलपान करा कमला ने परिचय पूछा। दोनों भले घर की स्त्रियाँ जान पड़ती हैं, बहुत ही दहशत खाई हुई हैं। एक ब्याही हुई घर की बहू-सी है, दूसरी क्वारी। युवती सत्रह साल की, बालिका पन्द्रह साल की है।

बालिका बोली—ये मेरी बहूजी हैं। मेरे भाई रमाशंकर वाजपेयी यहीं काटन मिल के बाबू हैं। मेरे पिता का नाम रामप्रसाद वाजपेयी है। भैया का पता नहीं है। पिताजी घर में थे, पर हम लोगों से नहीं मिले। कुछ मुसलमान घर लूटकर हमें अपने साथ ले गये थे।

कमला चकित हो गई। बड़ी देर तक सोचती रही। फिर राजकिशोर को अलग बुला, सब हाल समझाकर अस्पतालों में पता लगाने के लिए कहा। फिर युवतियों के भोजन पकाने का इन्तजाम करने लगी।

पण्डित रामप्रसाद और रमाशंकर अस्पतालों में मिले। दोनों के सिर पर चोटें थीं। रमाशंकर डेरे जाते समय घायल हुए थे। ४।५ दिन बाद अच्छे हो गये। राजकिशोर स्वयंसेवक की हैसियत से देख आता था, पर अपना परिचय नहीं दिया। युवतियाँ कमला के यहाँ प्रसन्न रहती रहीं। उनका पूरा परिचय तो कमला ने प्राप्त कर लिया, पर अपना पर्णतः छिपा रक्खा।

पिता-पुत्रों के लिए ४।५ दिनों तक भोजन कमला घर से ही भेजवा देती थी। उन्हें हाल मिल चुका था कि उनकी बहू और कन्या सुरक्षित हैं। पाँचवें दिन अच्छे होकर वे कमला के घर आये। साथ राजकिशोर भी था।

रमाशंकर तथा उनके पिता से वह सब हाल जिस तरह उनकी महिलायें एक मुसलमान के घर से निकाली गई थीं, राजकिशोर ने कहा। वाजपेयी ने प्रत्युत्तर में उसका निवास-स्थान पूछा। राजकिशोर ने रायबरेली जिला के धई मुकाम के पास बतलाया।

मकान आ अपनी महिलाओं को लेकर बिदा होते हुए पण्डित रामप्रसादजी बार-बार हाथ जोड़कर बालक राजकिशोर से प्रार्थना करने लगे—आपने हमारा पूरा-पूरा उद्धार किया है। अब इतनी कृपा और कीजिए कि इस मामले का भेद कहीं खुलने न पावे, नहीं तो हम किसी तरफ के न रहेंगे। रमाशंकर की भी पिता के शब्दों से सहानुभूति थी।

राजकिशोर पृथ्वी की तरफ देख रहा था। आँखों से आँसुओं की बड़ी-बड़ी बूँद टपक रही थीं। कुछ सँभलकर कहा—नहीं वाजपेयीजी, आप निश्चिन्त रहिए। जैसी हमारी इज्जत, वैसी ही आपकी है।

१९३२

❀ ❀ ❀

रात का सफर

श्री लक्ष्मीकान्त झा

डिब्बे-भर में मैं ही जाग रहा था। सोने के लिए काफी जगह होते हुए भी मैं जाग रहा था। न जाने क्यों? जरा कभी झपकी-सी आती भी तो स्टेशन पहुँचते ही फिर चौकन्ना हो उठता। चोरों के डर से नहीं। मेरे पास सामान नहीं के बराबर था। पर फिर भी—

शायद, रात को अपनी नींद हराम करके इंजिन चलाने वाला ड्राइवर यह सोचता था कि गाड़ी भर में कितने ही रईस, साईस, जमींदार, पाकेटमार, लेखक, विद्यार्थी, मजदूर, भिखारी, सब चैन से सोये हैं और मैं अकेला यहाँ जागकर उन लोगों को जहाँ जाना है लिये रहा हूँ। अच्छा, मैं उन्हें अभी दिखाये देता हूँ कि गाड़ी भर में एक आदमी जाग रहा है।

बस स्टेशन पर आते ही वह बिना चाल धीमी किये हठात् गाड़ी को रोक देता, जिसके धक्के से मुझे जो कुछ जरा नींद आई भी रहती वह गायब हो जाती। महादेवपुरवाले मुकद्दमे में मेरी ही जीत हुई, कपड़े की दर सस्ती हो गई और मैंने सात कुर्ते, तेरह पतलून और ग्यारह कोट बनवाये, दफ्तर में मुझसे ऊँचे ओहदे पर काम करने वाला

बईमानी करने में पकड़ा गया (अच्छा हुआ, मैं तो उसे सब दिन से बेईमान समझ रहा हूँ) और मुझे उसकी 'पोस्ट' मिलने वाली है, मैंने जो लाटरी में एक रुपया लगाया था उससे मोटर साइकिल मेरे ही नाम निकली है (चढ़ना तो मुझे आता नहीं पर बेच लूंगा), इत्यादि अनेक सुन्दर स्वप्न मैंने देखने शुरू किये, पर बीच में ही ड्राइवर मुझे जगा देता। कुछ मिनट बाद स्टेशन से गाड़ी निकलती "फफ्फफ् सट्सट् फफ्फफ् सट्सट्, फूटी किस्मत, फू.... टी...कि...स्मत, फूटी किस्मत" की ध्वनि करती हुई।

रात को जब सब कोई सो रहे हैं, उस समय रेल-गाड़ी के डिब्बे का दृश्य और गन्ध—खास कर गन्ध अवर्ण-नीय होती है—तब और भी यदि सर्दी पड़ती हो और सब खिड़कियाँ (कम-से-कम वे जो एक आदमी की ताकत से बन्द की जा सकती हों) बन्द हों। ऐसे डिब्बे में अकेला जगे रहने पर ऐसा मालूम होता है कि आप एक ऐसे तीर्थस्थान में हैं जहाँ भाँग-बूटी छानने को नहीं मिलती, आप एक ऐसे जेल में हैं जहाँ तिकड़म नहीं चलता अथवा एक ऐसे दफ्तर में हैं जहाँ न वेतन ज्यादा है न रिश्वत ही मिलती है।

हठात्, याद आया कि कुछ पढ़ना चाहिए। सफर के पहले ही मैंने लाइब्रेरियन साहब से खानगी तौर पर चार किताबें माँग ली थीं, क्योंकि मैं मेम्बर नहीं था और रहता भी तो दो ही मिलतीं। वैसे तो मैं किताब का प्रेमी नहीं हूँ। खरीद कर पढ़ने के लिए पैसे नहीं और पुस्तकालयों में जितनी अच्छी किताबें रहती हैं, हमेशा पुस्तकालय से बाहर ही रहती हैं। फिर पढ़ूँ तो क्या और कैसे? पर सफर में कुछ किताब रहने से इज्जत बढ़ती है। लोग समझते हैं कि हम साहित्य-प्रेमी हैं, शिक्षित हैं, सभ्य हैं। पर ऊँचे दर्जे में सफर करने के लिए अपनी किताबों की जरूरत नहीं। आप किसी साथ सफर करने वाले की किताब, उनकी ओर देखकर मुस्किराकर, उठा लीजिए। फिर आप शौक से राह भर पढ़िए। किताब वाले को बाहर के सुन्दर दृश्य देखने का मौका दीजिए और फिर उतरते समय धोखे से किताब लेकर चलते बनिए। इसके लिए किताब वाले को अधिक दुःख न होगा, क्योंकि उसे भी यह किताब शायद इसी तरीके से मिली होगी। पर अपनी किताब ऊँचे दर्जे में न ले जाइएगा। मेरी राय में तो आप अपने आपको भी ऊँचे दर्जे में जल्दी न ले जाइएगा—और यदि धोखे से ले भी जाइए तो उसे वज्रमुष्टि से पकड़े रहिएगा। आप "लेवेटरी" तक में उसे ले जा सकते हैं—इससे आपकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ेगी। पर यदि अपनी किताब हो —मगनी की नहीं—तो उसे हर्गिज़ न छोड़िएगा। मैं यह इसलिए जानता हूँ कि एक मुकद्दमें में गवाही देने के लिए, नौसिखिया होने के कारण सेकेंड क्लास का भाड़ा लेकर मैंने सचमुच सेकेंड क्लास में ही सफर किया था।

मैंने चारों किताबें निकालीं। एक थी कविता की, पर साथ में शब्दकोष न रहने के कारण उसे न पढ़ सका। दूसरा एक मौलिक उपन्यास था, पर कुछ पृष्ठ पढ़ने के बाद मालूम हुआ कि मैं इसे बँगला में पढ़ चुका हूँ। तीसरा एक नाटक था। पढ़ना शुरू किया। नायक और नायिका गाना गाकर बातें कर रहे थे। पर मुझे गाना पढ़ना—सुनना नहीं—नहीं पसन्द है। अतः मैंने चौथी किताब निकाली। इसकी मैं बहुत प्रशंसा सुन चुका था। यहाँ तक कि अनेक हिन्दी न जानने वाले महापुरुषों ने भी इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। पर किताब खोलने पर मालूम हुआ कि यह उसी नाम की दूसरी पुस्तक है। नहीं तो इतनी भद्दी कैसे होती कि मैं दो पृष्ठ पढ़ने के बाद ही ऊबकर उसे रख देता? फिर एक नाम की यदि अच्छी किताब निकल जाय तो उसी नाम की दूसरी किताब निका-लना कोई बुरी या नई बात तो है नहीं। पर पीछे मुझे मालूम हुआ कि वास्तव में वह हिन्दी न जानने वालों को भी अपनी भाषा-शैली से मोह लेने वाली पुस्तक ही थी।

किताबों की ओर से निराश होने के बाद फिर समय बिताने का उपाय सोचने लगा। डिब्बे की छत के, इसके बाद दीवारों के तख्ते गिनना शुरू किया। पर यह भी कुछ देर के बाद समाप्त हो गया। एक खिड़की कोशिश करने पर भी बन्द न कर सका था, उसे ही बन्द करने के लिए फिर कोशिश करने लगा। इसमें भी असफल हुआ। बाहर दृश्य देखने की चेष्टा की, पर बिल्कुल अँधेरा था। इच्छा हुई कि कुछ गाऊँ। एकान्त है। कोई हँसने वाला नहीं। पर फिर यह सोचकर डरा कि इतने लोग सोये हुए हैं। कहीं नींद टूट जायगी तो हँसने की कौन कहे मुझे मारने दौड़ेंगे। फिर वह मोटा आदमी जिसके हाल में ही मुँडाये

गये सिर के छोटे बालों में मिट्टी लगी और गले में काली बद्धी बँधी हुई है अवश्य ही कोई पहलवान है कहीं जागा तो? पर उसके सिवा और कोई मजबूत नहीं। मैं मजबूत होता तो जरूर पहलवान बनता। सेठजी मोटे जरूर हैं, पर इनकी नींद भी मोटी है। और यदि जाग भी जाएँगे तो बिगड़ने की शक्ति इनमें कहाँ। तो गाना शुरू करूँ? पहलवान साहब कुछ दूर पर हैं, वे जाग नहीं सकते। सबसे नजदीक हैं सेठजी, जो जगकर भी कुछ नहीं कर सकते। अच्छा यही सही। क्या यही! कुश्ती लड़ूँ पहलवान से? नहीं सेठ से! अरे नहीं गाना। हाँ, गाना—

गाड़ी स्टेशन पहुँची। मैं चाय पीने के खयाल से नीचे उतरा। अभी उस रङ्गीन कड़ुए गरम पानी का एक घूँट ही पी पाया था कि इतने ही में गाड़ी खुली। मैं गाड़ी की ओर दौड़ा। झट चाय वाले ने मुझे पकड़ा और कहा "पैसे निकालो तब भागना।"

मैं पैसे को बड़े यत्न से कमर में रखता हूँ। झट कमर में हाथ दिया। पर पैसे न मालूम क्या हो गये थे? इधर-उधर जल्दी-जल्दी टटोलने के बाद सिर्फ एक चवन्नी मिली। चाय वाले को दी। पर तब तक गाड़ी गायब हो चुकी थी। चाय वाले ने ग्यारह पैसे वापस किये और कहा—'एक पैसा मेरे पास कम है। यदि आप चाहें तो एकन्नी दीजिए तो मैं चवन्नी वापस कर दूँ। नहीं तो एक पैसे कम से ही सन्तोष कीजिए।' इत्यादि।

पर मुझे यह सुनने की फुर्सत न थी। मैं अकेला था। पाकेट में ग्यारह पैसे थे। स्थान अपरिचित था। याद आया कि इस स्थान का नाम भी मुझे नहीं मालूम है। स्टेशन पर नाम पढ़ा। नाम था—पर नहीं। नाम मैं नहीं बताऊँगा। इतना अवश्य कहूँगा कि नाम पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई। कारण यहाँ की सेवा समिति को मैंने कभी चार आने पैसे चन्दा दिया था।

सवेरा होना ही चाहता था। मैं बाहर निकला। सोचा किसी पढ़े-लिखे आदमी से सेवा-समिति वालों का पता पूछूँगा। पर याद आया कि पढ़े-लिखे आदमी के उठने के समय में अभी कम-से-कम दो घण्टे की देर है।

खैर किसी तरह पूछ-ताछ करता हुआ 'सेवा-समिति' के दफ्तर पहुँचा। साइन बोर्ड बड़ा ही सुन्दर था। पर उसमें लिखा हुआ था 'समय दस से चार।' शायद यहाँ दस बजे से चार के अन्दर ही सेवा की जरूरत होती है।

दस बजे—

मैंने दफ्तर में प्रवेश किया। मालूम हुआ कि कोई घण्टे भर में सेक्रेटरी साहब आ जायेंगे।

कुछ देर और बैठा। सेक्रेटरी साहब पधारे। मैंने अपनी रामकहानी उन्हें सुनाई।

उन्होंने पूछा—पर मैं कैसे विश्वास कर सकता हूँ कि जो आप कहते हैं वह बिल्कुल सच है। आप कुछ प्रमाण दे सकते हैं?

"जी नहीं! गाड़ी खुल जाने के कारण मैं गार्ड साहब से एक सर्टिफिकेट नहीं ले सका। अगर समय रहता तो मैं जरूर उनसे लिखा लेता कि मैं गाड़ी पर समय के अभाव से न चल सका।"

"ऐसी हालत में मैं मजबूर हूँ। न जाने कितने लोग ऐसे ही आकर झूठमूठ स्वाँग भरकर पैसा ठग ले जाते हैं।"

मैं गुस्से से आग-बबूला हो गया। मैंने कहा—कभी-कभी होटलों में खा लेने से मेरी ब्रह्म शक्ति नष्ट नहीं हो गई है। मैं शाप देता हूँ—

मेरे मुँह से इतना शब्द निकलते न निकलते भारी भूकम्प हुआ। 'सेवा समिति' आदि सभी क्षण भर में मिट्टी में मिल गये। मैं भी गिर पड़ा—

किसी ने मुझे हिलाकर उठाया। मैंने आँखें खोलीं। सामने ये कौन हैं? क्या मैं मर गया? ये यमदूत तो नहीं? पर चेहरा कुछ परिचित सा है। अरे ये तो वही गाड़ी वाले सेठजी हैं। ये जरूर मेरी कुछ सहायता करेंगे।

मैंने कहा—सेठजी—

उन्होंने कहा—बाबू साहब! जरा देखो तो कून सा इष्टेसन है! मुगलसराय तो नईं है! मुझे बणरस जाणा है।

"मुझे भी बनारस ही जाना है। अरे यह तो सचमुच मुगलसराय है। कुली!.....अरे ओ कुली!"*

---

*शुरू का कुछ अंश सिन्क्लेयर ल्युइस की एक कहानी के आधार पर है।

१९३२

बहन

श्री धनीराम प्रेम

(१)

वे दोनों मेडिकल कालेज में पढ़ते थे—सतीश फोर्थ इयर में, रजनी थर्ड इयर में। रजनी कालेज में सतीश के आने के एक वर्ष बाद आई थी, परन्तु उसके आने के कुछ दिन बाद ही दोनों में जान-पहचान हो गई और वह इस प्रकार। रजनी 'अनाटमी हाल' में मानव-शरीर के अवयवों का अध्ययन कर रही थी। उसे पहले-पहल एक अंग चीरफाड़ करने के लिए मिला था। वह अंग दो व्यक्तियों को दिया गया था, परन्तु रजनी की सहपाठिनी उस दिन आई नहीं थी और कालेज का नियम था कि अंग जिस दिन लिया जाय, उसी दिन उस पर कार्य आरम्भ हो जाना चाहिए। रजनी ने उससे पूर्व कभी चीरफाड़ का काम नहीं किया था। उसे चीरफाड़ के काम से बड़ी घृणा थी। साथ ही न जाने क्यों उसके हृदय में यह भावना स्थान पा गई थी कि वह चीरफाड़ करने में सफलता नहीं प्राप्त कर सकती। इस बात का डर उसे मेट्रिक पास करते समय था और इंटर-साइंस पास करते समय भी। इसीलिए वह इस लाइन में आना नहीं चाहती थी। परन्तु माता-पिता की इच्छा के आगे उसे सिर झुकाना पड़ा।

उस दिन वह दिन भर अपने भाग की चीरफाड़ करने न आई, इस भय से कि कहीं अन्य लड़के-लड़कियाँ उसकी भूलें देखकर हँस न दें और उसे कहीं अपने को 'अनफिट' देखकर 'फिट' न आ जाय। इसीलिए वह 'डिसेक्शन हाल' (चीरफाड़-गृह) में ऐसे समय पहुँची थी जब सब छात्र अपना अपना काम समाप्त करके चले गये थे। चाकू और काँटे को लेकर वह शव के पास गई। उसके पैर काँपने लगे, उसके हाथ काँपने लगे और उसके होठ काँपने लगे। सन्तोष उसे केवल यही था कि वह किसी जीवित शरीर पर चीरफाड़ नहीं कर रही थी। उसने 'डिसेक्शन-गाइड' निकालकर सामने रख ली, चाकू की धार पैनी की और डिसेक्शन करने के काम पर जुट गई। गाइड में लिखा था—'पहले चर्म को काटो, उसके नीचे चर्बी निकलेगी।' रजनी ने समझा, चर्म की तह बहुत मोटी होगी। मारा एक जोर का हाथ, मानो डबल रोटी काट रही हो। जिसे उसने चर्म समझा था, उसके उठाने पर चर्बी का चिह्न नहीं दिखाई दिया। वहाँ तो अस्थियाँ दीख रही थीं।

उसने चाकू एक ओर रख दिया और स्टूल पर चिन्तित होकर बैठ गई। उसे इस बात का पता न चला कि उसके पीछे कोई खड़ा हुआ मीठी मीठी हँसी हँस रहा है। इतने में ही घण्टा बजा। डिसेक्शन हाल १५ मिनट में ही बन्द हो जायगा। वह स्टूल से उठी और तब उसकी दृष्टि अपने पीछे खड़े हुए युवक पर पड़ी। वह उसी प्रकार अब भी मुस्कुरा रहा था। वह उसे देखकर सहम गई। युवक ने शव की ओर देखा, फिर पूछा—

"जूनियर ?"

रजनी ने चुपचाप सिर हिलाकर स्वीकृति का भाव व्यक्त किया। युवक हँसकर बोला—यह डिसेक्शन है या घास काटना। आपने तो चर्म, चर्बी, मांसपेशी, नाड़ियाँ सभी एक हाथ में साफ कर दिया।

"फिर इसमें हँसने की क्या बात है ? कभी आप भी तो जूनियर रहे होंगे।" रजनी कुछ क्रुद्ध होकर बोली।

युवक ने शव के उस भाग में हाथ लगाना चाहा जिसे रजनी डिसेक्ट कर रही थी। रजनी उसे ऐसा करते देख कर एक-दम बोल उठी—रहने दीजिए। जैसा भी होगा, मैं स्वयं कर लूँगी। नहीं तो कल ट्यूटर से पूछ लूँगी।

"आप नाराज हो गईं ?"

"क्यों नहीं ? आप सीनियर हैं तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि आप जूनियर का मज़ाक बनावें। कुछ दिनों के बाद मैं भी तो सीनियर हो जाऊँगी।"

"क्षमा कीजिए, मैं केवल मज़ाक कर रहा था। मैं कभी जूनियर से घृणा नहीं करता, न उसे छोटा ही समझता हूँ। क्या आपने मुझे 'सीरियस' (गंभीर) समझ लिया ?"

"आपके व्यवहार से और कोई क्या समझ सकता है ?"

"मुझे इस बात का दुःख है। बात यह है कि हमारी लाइन इतनी नीरस है, शुष्क है कि यदि हँसकर ,मनोरंजन कर कुछ जी न बहलाया जाय तो आगे चलना ही कठिन हो जाय।" रजनी चुप रही।

"आशा है, आप समझ सकती हैं।"

"हाँ, अब मैं समझने लगी हूँ।"

"क्षमा करेंगी ?"

"भूल जाइए।"

"खैर, अब घण्टा हो गया है। कल प्रातःकाल यदि आप आ सकें, तो मैं इस भाग का डिसेक्शन आपको समझा दूँगा।"

"धन्यवाद !"

"समझाने की बात तय रही फिर ?"

"हाँ !"

"यह ठीक है। मेडिकल स्टूडेंट में यही गुण होना चाहिए। मेरा नाम जानेंगी ?"

"बताएँ तो कृपा होगी।"

उसने अपना कार्ड आगे करके कहा—"सतीश !"

रजनी ने कार्ड को जेब में रख लिया।

"आपका कार्ड ?" सतीश ने पूछा।

"मेरे पास कार्ड नहीं है, अभी जूनियर हूँ और बी० एस-सी० भी नहीं हूँ।" रजनी हँसकर बोली।

"नाम तो होगा ?" सतीश ने कुछ झेंपकर कहा।

"रजनी।"

"अन्धेरी या उजाली ?" सतीश ने हँसकर पूछा।

रजनी चुप रही।

उस दिन से दोनों में मैत्री का सूत्र-पात हुआ।

डिसेक्शन से रजनी को बड़ा भय लगता था। वह परीक्षा में कभी सफल होने की आशा नहीं कर सकती थी। परन्तु सतीश ने उसके हृदय से वह डर निकाल दिया। उसकी सहायता से रजनी ने अनाटमी की परीक्षा सम्मान-पूर्वक पास कर ली।

रजनी और सतीश का परिचय धीरे-धीरे मैत्री में परिणत हुआ, मैत्री घनिष्ठता तक पहुँची और घनिष्ठता ने फिर प्रेम का रूप धारण कर लिया। वे दोनों एक दूसरे को प्रेम करने लगे। सतीश का प्रेम उच्छृंखल था, उसे प्रेम के दौरे आते थे। कभी वह प्रेम पागलपन का रूप धारण कर लेता, कभी उदासीनता का। परन्तु रजनी का प्रेम शान्त, सत्य, नित्यप्रति वृद्धि को प्राप्त होने वाला प्रेम था। उसमें किसी स्थल पर भी शिथिलता न थी। उस प्रेम का गढ़ इतना सुदृढ़ था कि उसे तोड़कर किसी के भीतर आने की जरा भी आशंका न थी। वह सतीश के प्रेम को जानती थी, कभी-कभी उसे उस पर कुछ सन्देह हो जाता था, कभी उसके प्रेम के विषय में कोई शंका उत्पन्न हो जाती थी। परन्तु शीघ्र ही वह इन बातों को भूल जाती थी। उसे इन बातों की अधिक चिन्ता इसलिए और नहीं होती थी कि सतीश उसको डाक्टर होते ही प्रणय-बन्धन, में बाँधने का वचन दे चुका था। उस अवसर के आने के लिए अब कुछ ही महीने रह गये थे।

रजनी के माता-पिता का देहान्त हो चुका था। वे दो बहनें थीं। छोटी बहन लता अपने नगर में इंटरमीजि-एट साइंस में पढ़ रही थी। रजनी के पिता काफी सम्पत्ति छोड़कर मरे थे। रजनी उसी से अपना तथा लता का व्यय चलाती थी। वह अभी तक लता को बम्बई नहीं लाई थी, क्योंकि उसे पता था कि लता का स्वभाव चंचल है। उसे किसी प्रकार यह सन्देह हो गया था कि बम्बई का वातावरण लता के लिए दूषित होगा। इसी लिए वह स्वयं छुट्टियों में जाकर लता के साथ कुछ समय घर पर व्यतीत कर आया करती थी।

लता ने हाल में ही इंटरमीजिएट पास किया था। रजनी की इच्छा थी कि वह बी० एस-सी० कर ले, क्योंकि डाक्टरी पढ़ने के लिए उसे बम्बई आना पड़ता। लता का भी विचार डाक्टरी पढ़ने का ही था। रजनी ने उसे एक पत्र लिखकर बहुत समझाया कि वह डाक्टरी न पढ़े, घर में एक डाक्टर काफी होता है। यहाँ तक प्रलोभन दिया कि बी० एस-सी० के बाद वह उसे विलायत भेजने का प्रबन्ध कर देगी। लता ने उस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया, जिससे रजनी ने समझा कि शायद वह उसकी बात

मान गई है। परन्तु दो दिन के बाद लता का एक तार उसे मिला। लता ने लिखा था—

बम्बई आ रही हूँ। कल रात की एक्सप्रेस से पहुँचूँगी। स्टेशन पर लेने आना।

रजनी क्या कर सकती थी, स्टेशन जाने के लिए तैयारी करने लगी। इतने में ही सतीश भी आ गया।

"इतनी शीघ्रता से कहाँ जाने की तैयारी कर रही हो?" उसने रजनी से पूछा।

"इसे पढ़ो।" रजनी ने यह कहकर तार सतीश के हाथ में दे दिया।

तार पढ़कर सतीश ने पूछा—यह लता कौन है?

"मेरी बहन।"

"बहन?"

"हाँ।"

"परन्तु तुमने अभी तक यह कभी नहीं बतलाया कि तुम्हारी कोई बहन भी है।"

"विचार कर रही थी कि तुम्हें कुछ दिनों के बाद घर ले जाकर उससे मिलाऊँ।"

"छोटी है?"

"हाँ।"

"अविवाहित?"

"मैं भी तो अविवाहित हूँ!" रजनी ने हँसकर कहा।

"यहाँ किस लिए आ रही है? बम्बई देखने के लिए?"

"पता नहीं। जो कुछ है इस तार में है।"

दोनों एक विक्टोरिया करके स्टेशन को चल दिये। लता आई।

"ये हैं सतीश—मेरे एक मित्र।" रजनी ने सतीश की ओर इशारा करके लता से कहा। लता ने सतीश की ओर देखा। सतीश ने लता की ओर देखा, फिर दोनों ने हाथ मिलाया। लता भी सतीश की ओर देखकर हँस पड़ी, सतीश भी लता की ओर देखकर हँस पड़ा।

(३)

दो दिन के बाद तीनों रजनी के कमरे में बैठे हुए चाय पी रहे थे। सतीश कभी रजनी की ओर देखता, कभी लता की ओर। दोनों बहनें थीं, दोनों सुन्दर थीं, दोनों शिक्षित थीं, दोनों की वाणी में माधुर्य था, दृष्टि में मादकता थी। परन्तु सतीश लता को अधिक देख रहा था। लता में कोई ऐसी बात थी जो उसने रजनी में कभी नहीं देखी थी—कभी किसी अन्य युवती में भी नहीं देखी थी। उसमें न जाने कैसा आकर्षण था कि सतीश उसकी ओर खिचा चला जाता था।

"लता यहाँ कितने दिन और रहेगी?" सतीश ने रजनी से पूछा।

"मैं क्या बताऊँ? न मुझे उसके आने का पता लगा, न जाने का लगेगा।" रजनी बोली।

"पता लगा हुआ है।" लता ने हँसकर कहा।

"क्या?" सतीश ने लता से पूछा।

"मैं यहाँ से नहीं जा रही हूँ!"

"यह बहुत अच्छा है।"

"सतीश!" रजनी कुछ क्रुद्ध भाव से बोली।

"क्यों?"

"तुम्हें इस प्रकार बातें नहीं करनी चाहिए।"

"इसमें क्या हुआ?"

"मैं नहीं चाहती कि लता यहाँ रहे। मैंने उसके लिए वहीं बी० एस-सी० में पढ़ने का प्रबन्ध कर दिया है।"

"परन्तु वह यहीं पढ़ना चाहती है, तुम्हें इसमें क्या आपत्ति है?"

"मैं उसकी गार्जियन हूँ, मुझे अधिकार है कि मैं उसे जहाँ चाहूँ, पढ़ाऊँ।"

"तुम्हें अधिकार है, यह ठीक है, परन्तु.... ।"

इतने ही में लता हँसकर बोली—अच्छा, अभी से आप मेरे लिए न झगड़िए। कुछ दिनों के बाद इसका निर्णय हो जायगा। आज मैं जहाज देखना चाहती हूँ, बहन, चलोगी दिखाने?"

"आज मुझे अस्पताल से समय न मिलेगा। लता, फिर किसी दिन चलेंगे।" रजनी बोली।

"और सतीश?"

"सतीश को परीक्षा की तैयारी से आज-कल समय कहाँ मिलता है?"

लता ने सतीश की ओर देखा। सतीश रजनी की ओर देखकर बोला—आज लता के साथ मैं चला जाऊँगा। उन्हें रोज रोज तो जहाज देखने जाना नहीं है। रात को एक एक घंटा और जग लूँगा।

रजनी ने कनखियों से सतीश की ओर देखा। उसकी दृष्टि में रोष और पीड़ा का भाव था। सतीश ने उधर नहीं देखा। लता से उसने पूछा—तैयार हो चलने के लिये ?

"बिलकुल।"

"तो चलो। नीचे टैक्सी ले लेंगे। रजनी, तुम भी साथ चली चलो, अस्पताल के निकट उतर जाना।"

रजनी लता और सतीश को अकेले नहीं जाने देना चाहती थी। उसके मन में आया कि वह भी उनके साथ चल दे। परन्तु पहले ही वह अपनी विवशता बता चुकी थी। उसने उनके साथ अस्पताल तक जाना भी स्वीकार नहीं किया।

(४)

कई दिन इसी प्रकार बीत गये। लता और सतीश की घनिष्ठता बढ़ती गई। रजनी की ओर से सतीश का ध्यान धीरे धीरे हटता गया। रजनी के कहने पर भी लता अभी तक बम्बई से नहीं गई थी।

उस दिन अधिक चिन्ता और क्षोभ के कारण रजनी का सिर दर्द कर रहा था। उसने लता से समुद्र के किनारे चलने के लिए कहा, परन्तु वह राजी न हुई।

"क्या तुम्हें मेरा कुछ भी विचार नहीं है ?" रजनी ने पूछा।

"विचार है, परन्तु मैं इस समय जाना नहीं चाहती।" लता ने उत्तर दिया।

"यहीं क्या करोगी ?"

"बैठूँगी, लेटूँगी, गाऊँगी, सीटी बजाऊँगी, फिर चुप हो रहूँगी। करने को है क्या नहीं ?"

"लता तुम अब तो एक पहेली बन गई हो।"

"क्यों ?"

"तुम बम्बई क्यों नहीं छोड़ना चाहतीं ?"

लता चुप रही।

"बोलो।" रजनी ने कहा।

"योंही नहीं।"

"कोई कारण तो होगा।"

"कारण है भी और नहीं भी।"

"साफ क्यों नहीं कहती हो—"

"क्या ?"

"कि सतीश........"

"हाँ ?"

"बनो मत। लता, तुम नहीं जानती हो कि इस प्रकार के व्यवहार के कारण मेरे ऊपर क्या बीत रही है।"

"तुम्हारे ऊपर ?"

"हाँ, मेरे ऊपर। तुम शायद इसे नहीं समझ सकती हो।"

"मान लो कि सतीश के कारण ही मैं बम्बई से नहीं जा रही हूँ। परन्तु तुम्हारा इससे क्या बिगड़ता है ?"

"मेरा इससे क्या बिगड़ता है, यह तुम्हें इस समय क्या बताऊँ। कभी समय आने पर तुम स्वयं जान जाओगी !" यह कहकर रजनी घूमने के लिए चली गई।

(५)

रजनी मलाबार-हिल की ओर जा रही थी। उसने कोई सवारी नहीं ली थी, पैदल ही चली जा रही थी। उसे यह पता न था कि वह कहाँ जा रही थी। वर्षों की तपस्या के बाद उसे सतीश मिला था। सतीश के सहारे पर ही उसने कल्पनाओं के अनेक भव्य भवन बनाये थे। सतीश के बल पर ही वह स्वप्नों का एक साम्राज्य बसा रही थी। परन्तु अब वह सब कुछ नष्ट हुआ जा रहा है। उसे ऐसा विदित होने लगा कि उसकी कल्पनाओं के भवन धीरे धीरे गिर रहे हैं; उसका साम्राज्य उजड़ रहा है। जिसे इतने दिनों में अपना कर पाया था वह अब छीना जा रहा था—और दुःख की बात यह थी कि उसकी अपनी बहन के ही द्वारा—उस बहन के द्वारा जिसे वह प्राणों से प्यारी समझती थी, जिसकी देख-रेख उसने बड़े प्रेम से की थी। वह इन्हीं विचारों को मस्तिष्क में लिए रिज रोड पर जा रही थी कि उसके पास से होकर एक कार निकल गया और उसने देखा कि उसमें और कोई नहीं, सतीश तथा लता बैठे थे। उसके पैर आगे न पड़े, पास ही

फुटपाथ पर एक बेंच पड़ी थी। वह लड़खड़ाती हुई आकर वहीं बैठ गई।

संसार कितना निष्ठुर है, कितना बनावटी है, कितना छली है, यह आज उसे प्रतीत हो रहा था। अभी तक उसने जीवन की कठिनाइयों का अनुभव नहीं किया था। वह समझती थी कि जीवन सुरभित सुमनों का सुन्दर उद्यान है, आज उसे पता चला कि प्रत्येक सुमन के नीचे एक कण्टक भी निहित रहता है। यह दूसरी बात है कि सौभाग्यशालियों का हाथ उस पर नहीं पड़ता, अभागों को उसका शिकार होना पड़ता है। उसके सामने विचारों की ट्रेन चल रही थी—कभी बाल्यकाल के विचार सामने आते थे, जब अपने सुखी गृह में वह अपने को कलोलें करती हुई पाती थी, कभी युवावस्था के विचार आते थे जब वह बहन के साथ और पीछे सतीश के साथ सुखी थी। फिर इन पिछले दिनों के विचार आते थे जब वह अपनी बहन और अपने प्रेमी के द्वारा ही मानसिक संताप का जीवन व्यतीत कर रही थी।

वह इन विचारों में निमग्न थी कि सामने से आते हुए कार में फिर उसे लता तथा सतीश दोनों दिखाई पड़े। दोनों को साथ साथ देखकर उसकी सारी आत्मा जलने लगी। मन ही मन वह छटपटाने लगी। उसे रह रहकर सतीश पर फिर लता पर क्रोध आने लगा। प्रति-हिंसा के भाव उसके हृदय में जाग्रत होने लगे। उसने देखा, कोई टैक्सी उधर से आती हो तो उसमें बैठकर वह उन दोनों का पीछा करे। परन्तु उसे कोई टैक्सी न मिली। विवश होकर सीढ़ियों द्वारा वह चौपाटी की ओर उतरी तथा वहाँ से बस द्वारा घर की ओर चल दी। उसे किसी प्रकार यह निश्चय हो गया कि वे दोनों उधर ही गये हैं।

वह घर पहुँची। कमरे का द्वार बन्द था। भीतर प्रकाश हो रहा था। उसने छेद में से देखा। लता मेज पर बैठी हुई थी। सतीश मेज का सहारा लिए उसके पास खड़ा था। दोनों में बातें हो रही थीं। रजनी सुनने लगी।

"ऐसा न कहो, लता!" सतीश ने कहा।

"क्यों नहीं, सतीश?"

"क्योंकि इससे मेरा हृदय टूट जायेगा, और साथ ही तुम्हारा भी।"

"मैं जानती हूँ। परन्तु रजनी के भी तो हृदय है। उसकी तुम चिन्ता क्यों नहीं करते?"

"मैंने बहुत चिन्ता की है, लता, परन्तु—ओह, लता, तुम सब कुछ जानती हो। जब तुम नहीं थीं तब सब कुछ ठीक था, परन्तु अब कुछ बात ही और है। रजनी के लिए मेरे हृदय में एक अनूठा स्थान है, परन्तु मुझे इसमें सन्देह है कि मैंने कभी उसे वास्तव में प्यार किया था। मैं तुम्हें देखने से पहले यही न जानता था कि प्रेम—सच्चा प्रेम क्या होता है। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है, रजनी अब भी किसी और को........।"

"नहीं, सतीश, मैं बहन को जितना जानती हूँ उतना तुम नहीं जानते हो। यह घटना उनका अन्त ला उपस्थित करेगी। ओह, मैं नहीं जानती थी कि तुम दोनों का क्या सम्बन्ध है। नहीं तो मैं बम्बई में एक दिन भी न ठहरती; या फिर तुमसे.........।"

"परन्तु अब तो यह हो गया।"

"जैसे यह हुआ है, वैसे ही और कछ भी हो सकता है।"

"और कुछ?"

"हाँ।"

"क्या?"

"तुम्हारा और रजनी का विवाह!"

"नहीं, लता!"

"क्यों नहीं?"

"इससे हम तीनों के ही जीवन नष्ट हो जायँगे। न हम दोनों ही सुखी रहेंगे, न तुम ही।"

"फिर मेरा-तुम्हारा विवाह भी न हो सकेगा। जिस बहन ने मुझे इतना योग्य किया है उसको दुखी बनाकर मैं तुम्हारे साथ कैसे सुखी रह सकूँगी?"

"रजनी सब समझ लेगी। वह हमें क्षमा कर सकती है। लता, एक जीवन के लिए तीन जीवन नष्ट न करो।"

"यह मेरा-तुम्हारा जीवन क्या है? सुख के लिए हम सब कुछ थोड़ा ही कर सकते हैं? फिर क्या पता कि मैं और तुम एक साथ रहकर साल भर बाद उतने ही सुखी होंगे जितना हम आज आशा करते हैं? हमारे जीवनों

में तपस्या का, त्याग, का, बलिदान का एक प्रमुख स्थान है। या तो रजनी वह बलिदान करे या मैं!"

"तुम करोगी?"

"हाँ।"

"लता!"

"यह मेरा अन्तिम निश्चय है, सतीश! मैं कल यहाँ से जा रही हूँ। तुम अब जाओ, सदा के लिए। कभी मुझसे फिर न मिलना। कभी इन दिनों की याद न करना। समझना, एक स्वप्न देखकर जागे हो। रजनी के साथ उसी प्रकार......।" यह कह कर लता ने आँसू भरे नेत्रों से सतीश की ओर देखा।

रजनी ने सब कुछ सुना। वह स्तम्भित रह गई। उसका क्रोध दूर हो गया। प्रतिहिंसा के भाव काफूर हो गये। लता का हृदय इतना विशाल होगा, वह यह न जानती थी। लता के प्रति उसका प्रेम उमड़ आया। वह रोने लगी। दो मिनटों तक छेद में से उसने लता और सतीश पर एक हसरत भरी निगाह डाली और आँसू बहाती हुई नीचे उतर कर एक ओर विलीन हो गई।

(६)

दूसरे दिन समाचार-पत्रों में यह प्रकाशित हुआ—

"मेडिकल कालेज की रजनी नाम की एक विद्यार्थिनी समुद्र में डूब कर मर गई। उसके शव का अभी तक पता नहीं लगा। उसके कुछ वस्त्र और एक पत्र जुहू के किनारे पर रक्खे हुए मिले हैं।"

इस समाचार को पढ़कर लता और सतीश, दोनों ही पुलिस-स्टेशन पहुँचे। उन्होंने रजनी का बेग, रूमाल तथा पत्र पहचान लिया। उसके अन्य वस्त्रों का पता न चला, न उसके शव का ही। दोनों ने पत्र खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

"यह जीवन भी क्या है और यह संसार भी क्या है?" दोनों पहेलियाँ हैं। उन्हें जितना ही बूझो, उतना ही वे अधिक जटिल होती जाती हैं। जिस व्यक्ति के लिए मैं सब कुछ करने को तैयार थी वह समझता है कि वह मेरे साथ सुखी नहीं रह सकेगा। वह प्यार करता है किसी और को—मेरी बहन को। मेरी बहन भी उसे प्यार करती है। वे दोनों एक होकर सुखी जीवन बिता सकते हैं। परन्तु मेरी बहन के पास अन्तःकरण है। मैं उस अन्तःकरण और उसके सुख के बीच में आती हूँ। जानती हूँ कि मेरा इसमें कोई दोष नहीं है, उस व्यक्ति पर मेरा पहला अधिकार है। परन्तु इस बात से मैं सबके, तीनों के जीवनों को दुखी बनाने का अपराध करूँगी। ऐसी दशा में केवल एक ही उपाय है। मैं उन दोनों के सुख के लिए अपना सुख, अपना भविष्य सब कुछ बलिदान कर दूँ। वही आज मैं कर रही हूँ। मुझे आशा है वे दोनों सुख से अपना जीवन व्यतीत करेंगे।"

× × × ×

कुछ समय के बाद लता और सतीश का विवाह हो गया। इसके सिवा वे करते ही क्या?

१९३२

❀ ❀ ❀

ज्योत्स्ना

श्री सुमित्रानन्दन पंत

सिंदूरी रंग के अस्ताचल पर, गेरू की ईंटों से निर्मित सन्ध्या का एकान्त-निवास, उत्तर, दक्षिण, पूर्व की ओर तीन बड़े बड़े वृत्तचूड़ झरोखे, जिनमें हलके धानी रंग के परदे दूरवर्ती दिगन्त का आभास दे रहे हैं। पश्चिम की ओर प्रवाल का विशाल प्रवेश-द्वार, जिसके ऊपरी भाग में अर्धवृत्ताकार लाल पोतों की लड़ियाँ झूल रही हैं। आसमानी रेशम की छत पर, इधर-उधर, साँझ के बादलों की टुकड़ियों की तरह, रेशमी गुलाबी जालियाँ लटक रही हैं; बीच बीच में दो-तीन उड़ते हुए पक्षियों के चित्र भी कढ़े हैं।

मूँगे के फर्श पर, धुनी हुई रुई की तरह, ढेर का ढेर कोमल सुनहला प्रकाश पड़ रहा है; जिसपर गेरुवे मलमल की धोती पहने प्रौढ़ उम्र की सन्ध्या, निष्कम्प दीप-शिखा की तरह, दत्तचित्त बैठी है। मृणाल-सी लम्बी, पतली,

खुली बाँहें; वक्षस्थल के साँझ के सरोजमसृण सुनहली कञ्चुकी से कसे; दमकते हुए भाल पर दो-एक चिन्ता की रेखायें; भौहें पतली, कुछ अधिक झुकी हुई; स्निग्ध, शारद आनन; शान्त, गम्भीर मुद्रा; कपोलों, कन्धों एवं पृष्ठभाग पर रुपहले-सुनहले बाल बिखरे हुए।

सामने एक बड़ा-सा नीले रेशम का चँदोवा फैला है, जिस पर वह, कुछ चिन्तितभाव से, चाँदी के तार से सितारे काढ़ती एवं उत्सुक-दृष्टि से, बार-बार, बाहर की ओर देखती जाती है।

प्रवेश-द्वार के सामने दूर तक फैला हुआ आँगन, जिसमें यत्र-तत्र कुन्द, बेला, जुही, चमेली की अधखिली कलियाँ महक रही हैं। एक ओर खूँटे पर बँधी, गेहूँ के रंग की गाय, आराम से लेटे लेटे जुगाली कर रही है, दूसरी ओर सोने की किरणों का एक बड़ा-सा खाली पिंजड़ा पड़ा है। चहारदीवारी के बाहर चारों ओर आम्र, अशोक, वट, पीपल आदि वृक्षों की श्रेणी, क्षितिज-रेखा की तरह, फैली है, जिसके अन्तराल से अस्तमित किरणें स्वर्ण-निर्झर की तरह फूट पड़ रही हैं।

नेपथ्य से संगीत-ध्वनि सुनाई पड़ती है; सिर से पाँव तक लटकते हुए बारीक, ढीले, जाली के लबादे की तरह, एक असाधारण लम्बी और दुबली स्त्री-आकृति, वृक्षों के झुरमुट से बाहर निकलकर, गाती हुई आँगन में इधर-उधर टहलने लगती है। यह स्त्री-आकृति छाया है, जो दोपहर की धूप को सह सकने में असमर्थ होने के कारण, दिन भर पेड़ों के नीचे सो रहने के बाद, इस समय स्निग्ध-सन्ध्या का उपभोग करने के लिए बाहर निकल पड़ी है और बहुत प्रसन्न जान पड़ती है। दोपहर के आलस्य की शिथिलता को मिटाने के लिए, बार-बार अपने कुम्हलाये हुए अंगों को खींचकर ही मानो उसने अपनी आकृति इतनी लम्बी बना ली है। वह अपनी स्वच्छन्दता के सुख को कभी गाकर, कभी ताली देकर, कभी हँसकर, कभी कलियों की माला गूँथकर, तरह-तरह से प्रकट करती है।

गीत, पीलू, ताल दादरा।

अलस-पलक, सघन-अलक,
श्यामल-छबि छाया।
स्वप्निल मन, तन्द्रिल तन,
शिथिल वसन भाया।
जीवन में धूप-छाँह,
सुख-दुख के गले बाँह;
मिटती सुख की न चाह
अमिट मोह-माया।
जग के मग में उदास,
आओ यदि पान्थ! पास,
हरूँ सकल ताप-त्रास,
शीतल हो काया।

(छाया गाती एवं माला गूथती हुई प्रवेशद्वार से अन्दर प्रवेश करती है।)

सन्ध्या—कौन, छाया?

छाया—(सन्ध्या के खुले बालों में बेला की कलियों की माला पहनाती हुई नमस्कारपूर्वक) हाँ, मैं हूँ जीजी!

सन्ध्या—(प्रसन्नतापूर्वक छाया की ओर आँख उठाकर) आज का वेश तो तेरा बड़ा विचित्र है री!

छाया—(चाटु तुष्टि से) मेरे लबादे को कहती है? यह वसन्त के नये कोपलों की परछाईं है जीजी! सुबह मैं उठी तब देखा कि मेरे अंगों में नया लबादा झूल रहा है! घर की छत के छिद्र एक हरी-भरी मरमराहट से भर गये हैं, उनसे अब धूप नहीं टपकती। इधर-उधर छितरी हुई शिशिर की धन्नियों और कड़ियों में सर्वत्र हरियाली छा गई है। पैरों के नीचे कोमल कोमल नया फर्श अंकुरित हो उठा है। मारे खुशी के मेरे कुम्हलाये हुए अंग जैसे खिल उठे। उन पल्लवों की अस्फुट मर्मर से स्वर मिलाकर मैं कब तक गाती रही, कब दोपहर हुआ, कब सो गई—कुछ भी याद नहीं। दिन भर नये बौरों की सुगन्ध के साथ भौरों की गूँज ने मन में पैठकर कितने ही स्वप्नों की सृष्टि कर डाली! दिन ढल चुकने पर जब आँखें खुलीं तब किसी तरह आलस की थकान को दूर कर आपसे मिलने चली आई।

सन्ध्या—मैं पहले ही समझ गई थी री, तेरे स्वर में अब चिकने पत्तों का मर्मर और नये वसन्त का उल्लास आ गया है।

छाया—मैं कभी एक-सी नहीं रह सकती जीजी!



चिन्तामणि घोष

[१६२८



स्मृति

(चित्रकार–सारदाचरण उकील)

प्रत्येक घड़ी बदलती रहती हूँ ! जब जैसी हवा चलती है, अपने को वैसा ही पाती हूँ, मैं क्या हूँ, यह मैं स्वयं नहीं जानती ।

सन्ध्या—(स्नेहयुक्त तिरस्कार से) इसीलिए तो तुझे मायाविनी कहते हैं ।

छाया—(हँसती है) किन्तु आपको सदैव एक ही सा देखती आई हूँ जीजी ! शिशिर-वसन्त, शीत-ताप, बाल्य-यौवन से परे, इस कर्म और आकांक्षामय विश्व के अस्ताचल पर आपका आसन पहले ही से अटल है । आपके इस तापसी-वेश और सेवा-मूर्त्ति के सम्मुख सूर्य का प्रकाश भी मन्द पड़ जाता है । और वे इस विश्व-चक्र के साथ भ्रमित होते रहने पर भी आपके श्रीचरणों में विनत-पद्म की अञ्जलि देना नहीं भूलते ।

सन्ध्या—(सितारें काढ़ती हुई) तू आज-कल वाक्-चतुर भी हो रही है ।

छाया—(ध्यानपूर्वक नीले रेशम के चँदोवे को देखती हुई, उसका एक सिरा हाथ में लेकर) लेकिन, आज यह क्या देख रही हूँ जीजी ? तुम्हारे छत्र की छाया तो अपनी ही नीरव शान्ति के लिए विख्यात है । उसमें यह लोलुप आँखों की उत्सुकता कहाँ से आ गई ? मेरी ओर कोई इस तरह आँखें फाड़ फाड़ कर देखे तो मैं सहमकर मर जाऊँ । इसीलिए रजनी जीजी के यहाँ—

सन्ध्या—तुझे नहीं मालूम क्या, आज चैत की पूनो है ? तू तो इन्दु को जानती ही है । आज—

छाया—जानती क्यों नहीं, रजनी जीजी के अनुरूप ही उनका लाड़ला लड़का है, जिसे दुलार से चन्दो चन्दो कहकर उन्होंने आसमान पर चढ़ा दिया है । विलास की सजीव प्रतिमा ! उसके कलङ्क की बात भला संसार में किससे छिपी है ?

सन्ध्या—दुर, पगली ! तू कला के महत्त्व को क्या समझे ! इन्दु का सौन्दर्य-बोध और कला-प्रेम तो स्वर्ग में भी प्रसिद्ध है । इसी से उसे कलाधर, कलानाथ की उपाधि मिली । संसार को उसी ने पहले सौन्दर्य की सम्मोहन-शक्ति का परिचय दिया । उसी ने जड़, निश्चेष्ट जीवन के समुद्र में उच्चाकांक्षाओं की तरंगें उठाईं । मनुष्य का हृदय अनन्त-काल से इच्छाओं में लहराता रहा है, इन्दु ने ही प्रवृत्ति के सौन्दर्य को पहचान कर उसे अपनी कला से सजीव किया ।

छाया—मैं क्या जानूँ, जीजी ! जीवन क्या है, कला क्या है । मैं तो पूछ रही थी—

सन्ध्या—वही तो तुझे समझा रही थी । सुन, आज चैत्र-पूर्णिमा है । आज इन्द्र अपने शासन की बागडोर अपनी बहू ज्योत्स्ना को देने वाला है । उसी के राज्याभिषेक के लिए मैं यह छत्र बना रही हूँ । आज से संसार में आदर्श साम्राज्य स्थापित होगा । ज्योत्स्ना के जीवन का ध्येय विलास नहीं, प्रेम है । वह अपने साम्राज्य में स्नेह, सहानुभूति, सौन्दर्य आदि उन्नत भावनाओं का प्रचार करेगी ।

छाया—(आश्चर्य से) ज्योत्स्ना का राज्य ? वही जिसे गाँव भर में जुन्हाई, जन्हाई न जाने क्या कहते हैं । उसी ज्योत्स्ना का आदर्श साम्राज्य ?

सन्ध्या—हाँ, आदर्श साम्राज्य ! वह मनुष्य के हृदय में नवीन कल्पना, नवीन, उच्छ्वास, उसके पलकों में नवीन सौन्दर्य, नवीन स्वप्नों की सृष्टि करेगा । पशु-प्रवृत्तियों से मनुष्य को ऊपर उठाकर उसके स्वभाव को परिमार्जित बनायेगा । चारों ओर स्नेह, सुख, सौन्दर्य, और संगीत का सागर उमड़ उठेगा । एक शब्द में, संसार में स्वर्ग उतर आयेगा ।

छाया—(सुख और आश्चर्य से) संसार में स्वर्ग ? क्या ऐसा सम्भव हो सकता है जीजी ?

सन्ध्या—संसार कभी से आदर्श स्थिति के स्वप्न देखता आ रहा है । मनुष्य अपनी उर्वरा बुद्धि के अनेक वाद-विवादों, हृदय की अनेक भावनाओं-कल्पनाओं से निर्मित एक सब प्रकार से पूर्ण एवं आदर्श परिस्थितियों के लोक में रहना चाहता है । समय समय पर उसने जीवन की पूर्णता को अनेक स्वरूप दे डाले हैं । एक बार वह आदर्श स्थिति का भी अनुभव कर ले । (गम्भीर होकर) विधाता के विधान का रहस्य अज्ञेय है । छाया ! मैं अनादि-काल से देखती आई हूँ कि संसार में चिर काल तक कोई भी 'वाद' नहीं ठहर सकता, इससे सृष्टि के स्वतंत्र विकास में बाधा पड़ती है ।

(सहसा दक्षिण की खिड़की का परदा हिलने लगता